A-PDF Image To PDF Demo. Purchase from www.A-PDF.com to remove the watermark

11 a 2
372
150
522
640
1162

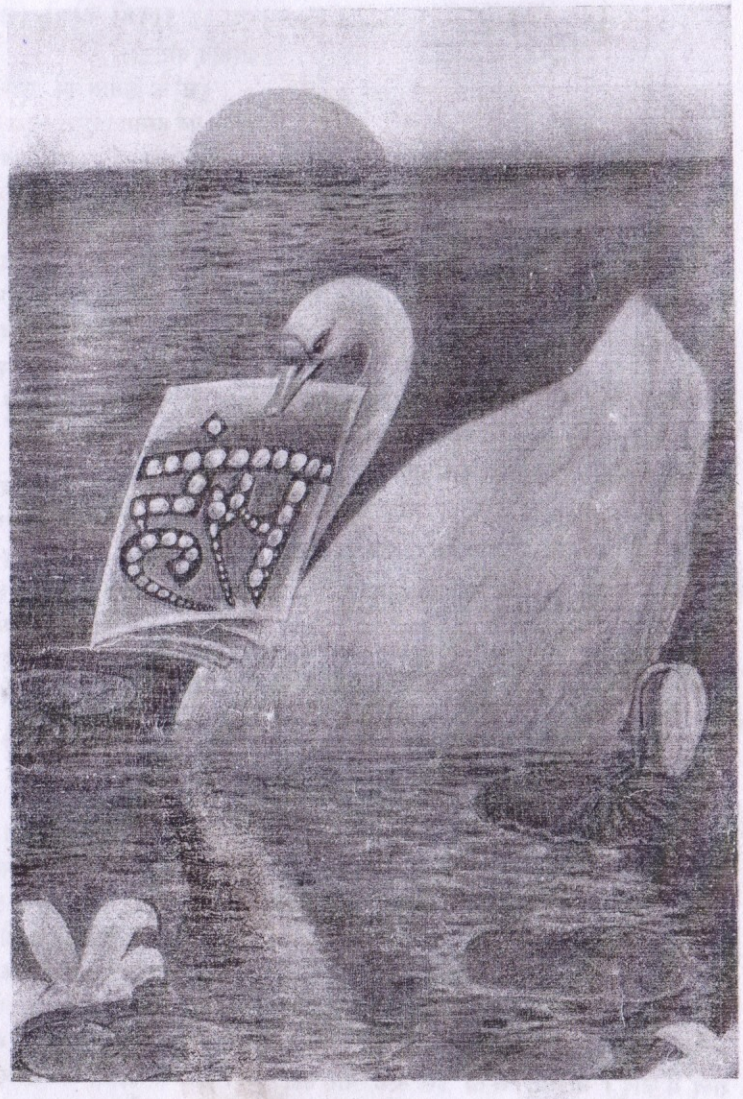

सम्पादक

प्रेम चंद

'हंस' के नये विशेषांक पर सम्मतियाँ

हिन्दी के उग्रमूर्ति गल्प-लेखक 'उग्र' जी लिखते हैं—

भाई,

'हंस' के विशेषांक का क्या कहना! सबसे अधिक मुझे गेट-अप और छपाई पसन्द आई...इसके तो तुम जीनियस ही ठहरे ..बहुत ना पसन्द आया भाई गौड़ कृष्णदेव का 'सिंहावलोकन'। गौड़जी अच्छे समालोचक, मेरे मतसे, कदापि नहीं—हाँ, एम० ए०, एल-टी० 'विशालरद' जरूर हैं—वह जा-बजा बाबू प्रसाद जयशंकर की इतनी व्यर्थ प्रशंसा करते हैं कि उन पर क्रोध नहीं, दया आती है। दूसरे परम विद्वान् गौड़जी का 'भुतहा'-लेख मुझे पुराना लगा। राय-साहब के लेख में बनारसी-अहंकार बहुत है।

हिन्दी के उदीयमान सुकवि कालीप्रसाद 'विरही' लिखते हैं—

बन्धुवर वर्माजी,

'हंस' का विशेषाङ्क मिला। आपने सचमुच इस को सजाने में कमाल कर दिया। मैं तो इसका प्रत्येक पृष्ठ एक दर्शनीय चित्र समझ रहा हूँ। क्या कहानी, क्या लेख, क्या कविताएँ और गद्य-गीत, सभी मौलिक, सभी भाव-पूर्ण, सभी सुंदर हुए। आपके पिछले विशेषाङ्क से यह विशेषाङ्क बाजी मार ले गया। मैं इस विशेषाङ्क को अन्य विशेषाङ्क निकालने वाली पत्र-पत्रिकाओं के लिए अनुकरणीय और आदर्श-करार देता हूँ। रोचकता भी कम नहीं, प्रत्येक पृष्ठ में आकर्षण है, प्रत्येक पंक्ति में मोहिनी है, और प्रत्येक शब्द में जादू। भाईजी, मैं तो इसे एक बार उठा कर, समाप्त किये बिना न छोड़ सका, मित्र-गण तरसते ही रहे। कहाँ तक प्रशंसा करूँ, ऐसे सुंदर सम्पादन और प्रकाशन के लिए मैं आपको भूरि-भूरि बधाई देता हूँ!—आपकी इस सफलता पर मुझे न जाने क्यों गर्व हो रहा है।

दक्षिण के सुप्रसिद्ध हिन्दी-लेखक श्रीआनन्द रावजी जोशी लिखते हैं—

श्रीमान् वर्माजी,

'हंस' के द्वितीय वर्ष का विशेषांक लगभग एक सप्ताह पूर्व हस्तगत हुआ। इस नये विशेषांककी अपूर्व सजधज देखकर चित्त प्रफुल्लित हो उठा। छपाई-सफाई और रूपरंग में तो आपने ग़ज़ब कर दिया। काव्य-सामग्री का चुनाव भी सुंदर है। अधिकांश कविताएँ और कहानियां सरल सुपाठ्य हैं। सुदर्शनजी की 'मजदूर' शीर्षक कहानी दिल पर गहरी चोट करती है। आपकी सफलता पर हार्दिक बधाई।

सैनिक के सह० सं० और संचालक महेन्द्रजी लिखते हैं—

प्रिय प्रवासीजी, वन्दे।

आपका 'हंस' का विशेषांक मिला। आपकी सुरुचि, सुव्यवस्था और सौन्दर्य-प्रेम का सजीव चित्र सामने आया। तबीयत फड़क उठी। भाई, सच कहता हूँ, बड़ा ही सुन्दर है। छपाई-सफाई में अजीब निरालापन है। आपके इस अंक को देखकर स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसादजी की याद आ गई। मुद्रण-कला में उनके बाद सजीवता लाने का श्रेय आपको ही मिल सकता है। बधाई है।

'हंस' के कुछ लेख भी पढ़े हैं—अभी जल्दी-जल्दी में। अब तो इस बात के कहने में कोई संकोच ही नहीं हो सकता कि 'हंस' अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ मासिकपत्र है। कहानियों का बड़ा सुंदर संग्रह होता है और हो भी क्यों नहीं। जिस पत्र के सम्पादक प्रेमचन्दजी हैं, वह भी ऐसा न निकले, तो कौन निकले।

कविताओं के बारे में एक शब्द कहना चाहता हूँ, बुरा न मानिएगा। मालूम होता है, कि काशी के वर्त्तमान वायुमंडल में आप भी बेतरह बहे जा रहे हैं। तभी तो कविताओं और गद्य लेखों में छायावाद का साम्राज्य है। आप उसे पसन्द करते हों, तो रखिए जरूर; पर एकांगी नहीं। और भी पाठक हैं, जो दूसरी तरह की कविताएँ पसन्द करते हैं। शायद दस-बीस व्रजभाषा के भी प्रेमी हों। उनके मनोरंजन का भी कुछ ख्याल रखिए।

आत्मकथा

जयशङ्कर 'प्रसाद'

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास
देखो करते ही रहते हैं अपना व्यङ्ग-मलिन उपहास
तब भी कहते हो कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती
तुम सुनकर सुख पाओगे देखोगे यह गागर रीती
किन्तु कहीं ऐसा न होकि तुमही खाली करने वाले
अपने को समझो मेरा रस ले अपनी भरने वाले
यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्याकर जो भाग गया
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा
अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी मौन व्यथा

अपनी कहानी

लेखक—श्रीयुत रायसाहब लाला सीतारामजी, बी० ए०

यों तो किसी सभा या परिषद् से बुलावा आया, और वहाँ जाने में विशेष कष्ट न उठाना पड़ा, तो मैं चला जाता हूँ; परन्तु जहाँ विशेष रूप से गुल-गपाड़ा हो, वहाँ कभी नहीं गया। काँग्रेस का एक ही जलसा सन् १८८८ ई० में देखा, सो भी एक मित्र के आग्रह से। कायस्थ-कान्फ्रेन्स के दो जलसों में उपस्थित हुआ, सो दोनों बार यहीं प्रयागराज में। जिस साल कलकत्ते के पण्डित गोविन्द नारायण चौधरी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे, उस समय, एक महाशय के कहने से—जिन्हें अब मेरा नाम सुनने से शिरःशूल होता है; परन्तु जिनको अपनी उद्दंडता का दण्ड मिलता ही जाता है—सभासदों को पार्टी दी गई। उसमें मेरा कुछ खर्च हुआ। इसपर एक कर्मचारी ने मेरे एक मित्र से कहा—'क्या यह हिन्दुस्तान को एक करना चाहते हैं।' यह बीस-बाईस वर्ष पहले की बात है। उसके पीछे जब पेंशन मिल गई, तो समझा कि अब सुचित्त हुए; परन्तु सुचितई कहाँ। आज एक हिसाब से ७५ वाँ वर्ष लगा। अब भी कुछ पत्रिकाओं के सम्पादक पीछे पड़े हुए हैं। 'हंस' के प्रधान और सहायक सम्पादकों ने भी आग्रह किया कि अपनी कहानी लिख दो। इसलिये कुछ लिखने के लिये मजबूर हो गया हूँ। सुनिए—

मार्च १९११ में मैंने पेन्शन ले ली। डिप्टी कलक्टर होने से पहले मैं १६ वर्ष तक शिक्षा-विभाग में रहा। सीतापुर-हाईस्कूल, मेरठ-हाइस्कूल, कानपूर-हाइस्कूल, फैजाबाद-इण्टरमीडियट कॉलेज का हेडमास्टर और इलाहाबाद-डिवीज़न, लखनऊ-डिवीज़न और बुन्देलखण्ड-एजुकेशनल डिवीज़न का असिस्टंट इन्स्पेक्टर आँव स्कूल रहा। क्वीन्स कॉलेज बनारस में साढ़े चार वर्ष सेकण्ड मास्टरी की। अफसर मेरे काम से सदा प्रसन्न रहे। वरन यों कहिये कि इसी प्रसन्नता के कारण डिप्टी कलेक्टरी मिली; परन्तु सार्वजनिक शिक्षा में मेरा प्रेम कम न हुआ और पढ़ना-लिखना भी न छूटा। पेन्शन लेते ही इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग के सुयोग्य डाइरेक्टर श्रीमान डीलाफ़ास की (जो अब सर ल्काड डीलफ़ास हैं) चिट्ठी आई कि तुम टेक्सबुक कमेटी के मेम्बर बनाये गये। उसी साल गवर्मेण्ट ने आज्ञा दी कि हिन्दी-उर्दू की कामन लैंग्वेज रीडरें बनें; जिनकी भाषा एक हो और लिपि भिन्न। इनके पाठ अनेक विद्वानों ने बनाये और सबकी जाँच करने के लिए सरकार की ओर से एक कमेटी बनी। इसमें नौ सदस्य थे। चार हिन्दू, चार मुसलिम। और प० रमाशंकरजी मिश्र भूत पूर्व कलेक्टर—सभापति। हिन्दू सदस्यों में एक थे पण्डित सुन्दरलाल, जो पीछे सर सुन्दर-लाल हुए। शिक्षा-विभाग के दो हिन्दू हेडमास्टर, और एक इस आत्म-कहानी का लेखक। मुसलिमों में एक हादी साहब डिप्टी कमिश्नर, शिक्षा-विभाग के दो अधिकारी और एक अलीगढ़ के शेख़ अबदुल्लाह। इस कमेटी की बैठक साल भर रही। हिन्दी के पक्षपाती जानते थे कि कामन लैंग्वेज का ढकोसला हिन्दी को नष्ट करने के लिये बनाया गया है। परदेसी हाकिम—जो हम लोगों के भेद-भाव से अपरिचित है—नहीं समझता कि एक देश के रहनेवाले भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। उर्दू के पक्षपातियों ने उर्दू मे फारसी और अरबी की भरमार करदी। मुसलिम राज्य के दफ़्तर फ़ारसी भाषा और फारसी अक्षरों मे था। ईरानी सभ्यता का पूरा प्रभाव उत्तर में खीवा बुखारा तक और पूर्व में अफ़गानिस्तान तक पड़ा हुआ था। अफ़गान बादशाहों के दरबार में फ़रदोसी

आदि फ़ारसी के कवि थे। ईस्टइण्डिया कंपनी के कर्मचारी भी मुसलिम बादशाहों और नवाबों से फ़ारसी में पत्र-व्यवहार करते थे। जब अंगरेजी सरकार ने देश-भाषा में दफ़्तरों की कारवाई करने की आज्ञा दी, तो कर्मचारी तो वही थे, उन्होंने नाम-मात्र के लिये देश-भाषा को स्थान दिया। इससे दफ़्तरों में उर्दू की उत्पत्ति हुई। सर चार्ल्स लायल का यह अनुमान है कि उर्दू के जन्मदाता कायस्थ ही थे। इसका एक उदाहरण लीजिये। तहसील के अहलकार से 'कैफ़ियत' माँगी गई। जब दफ़्तर में आई, तो उस पर लिखा था—

'कैफ़ियत बाला वास्ते सुदूर हुक्म हरसाल हुज़ूर है।'

इसमें एक शब्द 'है' देश की बोली का है और सब अरबी हैं, या फ़ारसी। दूसरी ओर से लात मारने के बदले पाद-प्रहार करना इत्यादि लिखे जाने लगे। दोनों में मेल कौन करा सकता था? बढ़ते-बढ़ते अब यह भाषा और इसका उर्दू नाम इस्लाम के अंश हो गये हैं। मैं अपनी कहानी लिखने बैठा था और यह लिख मारा; परन्तु इसका कारण यह है कि इस झगड़े में मुझे भी सरकार ने डाल दिया। मेरे मित्र और कर्मचारी, जो मेरे स्वभाव से परिचित थे, मुझसे बार-बार कहते थे कि हम लोग आप ही का मुँह देख रहे हैं। मैंने भी उत्तर दिया, कि जो कुछ मुझसे हो सकेगा, उसमें कसर न की जायगी। कमेटी में एक-एक शब्द पर झगड़ा हुआ। एक बार एक साहब ने फ़रमाया, यह गवर्नमेण्ट की 'पालिसी' है। मैंने उत्तर दिया कि जिस गवर्नमेंट ने आपको मेम्बर बनाया, उसीने मुझको बनाया, आपको पालिसी बता दी, मुझे न बताई। सर सुन्दरलालजी शान्तिप्रिय थे, कहा करते थे—लड़िये मत। समाधान का एक उदाहरण लीजिये। सभापति महाशय राधास्वामी मत के थे, उन्होंने खुदा और ईश्वर दोनों का बहिष्कार करके कहा कि 'मालिक' लिखा जाय। मैंने थोड़ी फारसी भी पढ़ी है, तुरन्त उत्तर दिया कि मालिक अरबी भाषा का शब्द है, और इसके तीन अर्थ हैं—

१—स्वामी। २—नरक के द्वार का रखवाला। ३—वह मनुष्य जिसके हाथ यूसुफ़ मिस्र में बिके थे। अन्त में श्रीमान् डाइरेक्टर साहब ने यह निर्णय किया कि हिन्दी में ईश्वर रहे और उर्दू में खुदा।

'खुदा-खुदा' करके कमेटी की कारवाई समाप्त हुई। उर्दू के पक्षपातियों से कहा कि आपको उचित था कि आप इस बात पर अड़ जाते, कि हमे शुद्ध उर्दू चाहिये और हम भी हठ करते कि हमें शुद्ध हिन्दी अपेक्षित है। अब परिणाम यह हुआ कि रीडरों में न हिन्दी शुद्ध है, न उर्दू।

इन्हीं रीडरों की समीक्षा के लिये श्रीमान् किचलू साहब के सभापतित्व में एक और कमेटी बनी, जिसमें सभापति को छोड़ कर दो ही सदस्य थे। एक हिन्दू और एक मुसलिम, मुसलिम साहब प्रयाग के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर थे और देवनागरी अक्षरों के कट्टरविरोधी। उनका संकल्प यह था कि स्कूलों में देवनागरी अक्षर पढ़ाये ही न जाँय। कमेटी तो बन गई; परन्तु सभापतिजी मेरे घर पर दौड़े आते थे और कहते थे कि आप लोग लड़ेंगे, तो बड़ी बदनामी होगी। उनसे कहा कि आप निश्चिन्त रहें। काम बड़ी सावधानी से किया जायगा। डाइरेक्टर साहब को भी आश्चर्य हुआ और बोले How could they both agree? (दोनों कैसे एक मत होगये?) मैंने कमेटी में इतना ही कहा कि कोई बात ऐसी न होनी चाहिये, जिससे हिन्दू-मुसलिम बच्चों की शिक्षा में बाधा पड़े। कमेटी की कार्रवाई से बैरिस्टर साहब इतने सन्तुष्ट हुए कि युनीवर्सिटी-कनवोकेशन के दिन फेलोज़ रूम में सारे मुसलिम फेलोज़ (सदस्यगण) के सामने मुझे लेजाकर कहने लगे कि शिक्षा का प्रबंध इनके हाथ में दिया जाय, तो सारे झगड़े निपट जायँ। यहाँ इतना लिखना आवश्यक है कि मैंने साहित्य-संमेलन के एक प्रवर्त्तक से कहा था कि हम दोनों का उद्देश हिन्दी की उन्नति करना है। हम मिलकर काम करें, तो बड़ी सफलता हो; परन्तु बात ही खाली गई।

उसके पीछे शिक्षा-विभाग में हिन्दी का काम धूम-धाम से होने लगा। इतिहास के कई ग्रन्थ लिखे गये। हिन्दी में जितनी पुस्तकें आईं, सबका मेरी ही सम्मति से निर्णय हुआ। एक

महाशय ने—जो अब तक अनायास द्वेष मानते हैं—कुछ दोष भी निकाले ; परन्तु उन्होंने सुँह की खाई और उन्हीं का अनुवाद अशुद्ध निकला।

दूसरा काम लिखने-योग्य यह है कि आज से बारह-तेरह वर्ष पूर्व कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध वाइस चान्सलर सर आशुतोष मुकर्जी प्रयागराज आये थे। उनका मुझ पर बहुत स्नेह था। उनसे मैं अनेक बार मिला और प्रसंग-वश एम० ए० की परीक्षा में हिन्दी को भी स्थान देने की बात छिड़ी। सर आशुतोष ने कहा कि बंगला में प्रचुर साहित्य है और रायबहादुर दिनेशचन्द्र सेन ने एक संग्रह भी बनाया है, हिन्दी में भी कुछ है? मैंने उत्तर दिया कि हिन्दी आधे से अधिक भारतवर्ष की बोली है और इसमें हजार वर्ष का पुराना साहित्य है। इसके पीछे सर आशुतोष कलकत्ते चले गये। कलकत्ता-युनिवर्सिटी-कमीशन के सदस्य होकर भारतवर्ष का दौरा करते हुए वे यहाँ फिर आये। मैं फिर उनसे मिला। उस समय तो वे कुछ न बोले ; परन्तु कमीशन का कार्य समाप्त होने पर गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा—यह पत्र सर आशुतोष की आज्ञा से मेरे रचे कलकत्ता-युनिवर्सिटी हिन्दी-सिलेकशन्स की पहली जिल्द Bardic Poetry में छपा है और इसकी नकल मैंने इलाहाबाद-युनिवर्सिटी, हिन्दू-युनिवर्सिटी आदि में भेजकर हिन्दी में एक परीक्षा का प्रस्ताव किया।—जिसमें भारत की भाषाओं में एम० ए० की परीक्षा होने का प्रस्ताव किया गया। प्रस्ताव स्वीकृत होने पर उन्होंने मुझे एक चिट्ठी लिखी और हिन्दी का एक संग्रह बनाने की आज्ञा दी। मैं भी तुरन्त उनकी आज्ञा के प्रतिपालन में लग गया और कई वर्ष के कठिन परिश्रम से सात जिल्दों में संग्रह तैयार हुआ, जिसका विवरण यह है—

भाग १, Bardic Poetry अर्थात् बन्दीजन या चारण काव्य। भाग २, Krishna Cult कृष्ण की उपासना, अष्ट छाप। भाग ३, तुलसीदास। भाग ४, सन्त कबीर इत्यादि। भाग ५, साहित्य शास्त्र, रस, नायिका-भेद। भाग ६, दो जिल्दों में अन्य कवि।

यह ग्रन्थ कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किये और मेरे ही कहने से इण्डियन-प्रेस के स्वामी ने भाग ५ छापकर कलकत्ता-विश्वविद्यालय को भेंट किया और लाला रामनारायणलालजी ने भाग ६ की एक जिल्द की छपाई नहीं ली।

मैंने सुना है, कि एक महाशय ने कहा था, कि 'बाबू सीताराम ने संग्रह बनाया ; परन्तु अच्छा नहीं बना।' मैंने पगडंडी बनाई है, अब रेल की सड़क बनाना औरों का काम है। मैं कायस्थ कुल-भास्कर मु० काशीप्रसाद का पुत्र-तुल्य शिष्य हूँ। उनकी शिक्षाओं में से एक यह भी थी, कि भारतवर्ष की बिगड़ी दशा में जितनी देश-सेवा हो सके, उसे करना और किसी से सहायता की आशा न रखना। इसी कर्त्तव्य के पालन में उमर बीत गई और व्यर्थ या ईर्ष्या-वश द्वेष करनेवालों की कभी परवाह न की।

धर्म करैं गारो सहैं, लावैं नहिं मन रोष।
अहै हमारे धर्म में, बुरो मानिबो दोष॥

(४ थे पृष्ठ का शेषांश)

छत पर बैठे चौधरी साहब से बात-चीत कर रहे थे। चौधरी साहब के पास ही एक लैम्प जल रहा था। लैम्प की बत्ती एक बार भभकने लगी। चौधरी साहब नौकरों को आवाज़ देने लगे। मैंने चाहा कि बढ़कर बत्ती नीचे गिरा दूँ ; पर पण्डित लक्ष्मीनारायण ने तमाशा देखने के विचार से मुझे धीरे से रोक लिया। चौधरी साहब कहते जा रहे हैं 'अरे, जब फूट जाई तबै चलत जाबह।' अन्त में चिमनी ग्लोब के सहित चकनाचूर हो गई ; पर चौधरी साहब का हाथ लैम्प की तरफ़ न बढ़ा।

उपाध्यायजी नागरी को भाषा का नाम मानते थे और बराबर नागरी भाषा लिखा करते थे। उनका कहना था कि नागर अपभ्रंश से, जो शिष्ट लोगों की भाषा विकसित हुई, वही नागरी कहलाई। इसी प्रकार वे मिर्जापुर न लिखकर मीरजापुर लिखा करते थे, जिसका अर्थ वे करते थे लक्ष्मीपुर—मीर=समुद्र + जा=पुत्री + पुर।

'प्रेमघन' की छाया-स्मृति

लेखक—श्रीयुत प० रामचन्द्रजी शुक्ल, बी० ए०

मेरे पिताजी फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और पुरानी हिन्दी-कविता के बड़े प्रेमी थे। फारसी-कवियों की उक्तियों को हिन्दी-कवियों की उक्तियों के साथ मिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। वे रात को प्राय: रामचरितमानस और रामचन्द्रिका, घर के सब लोगों को एकत्र करके, बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दुजी के नाटक उन्हें बहुत प्रिय थे। उन्हें भी वे कभी-कभी सुनाया करते थे। जब उनकी बदली हमीरपुर ज़िले की राठ तहसील से मिरज़ापुर हुई तब मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी। उसके पहले ही से भारतेन्दु के सम्बन्ध में एक अपूर्व मधुर भावना मेरे मनमें जगी रहती थी। सत्यहरिश्चन्द्र नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी। 'हरिश्चन्द्र' शब्द से दोनों की एक मिली जुली भावना एक अपूर्व माधुर्य्य का संचार मेरे मन में करती थी। मिरज़ापुर आने पर कुछ दिनों में सुनाई पड़ने लगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के एक मित्र यहाँ रहते हैं, जो हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका नाम है उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी।

भारतेन्दु-मंडल की किसी सजीव स्मृति के प्रति मेरी कितनी उत्कंठा रही होगी, यह अनुमान करने की बात है। मैं नगर से बाहर रहता था। एक दिन बालकों की एक मंडली जोड़ी गई। जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे, वे अगुआ हुए। मील-डेढ़-मील का सफ़र तै हुआ। पत्थर के एक बड़े मकान के सामने हम लोग जा खड़े हुए। नीचे का बरामदा खाली था। ऊपर का बरामदा सघन लताओं के जाल से आवृत था। बीच-बीच में खंभे और खुली जगह दिखाई पड़ती थी। उसी ओर देखने के लिए मुझसे कहा गया। कोई दिखाई न पड़ा। सड़क पर कई चक्कर लगे। कुछ देर पीछे एक लड़के ने उँगली से ऊपर की ओर इशारा किया। लता-प्रतान के बीच एक मूर्त्ति खड़ी दिखाई पड़ी। दोनों कंधों पर बाल बिखरे हुए थे। एक हाथ खंभे पर था। देखते-ही-देखते वह मूर्त्ति दृष्टि से ओझल हो गई। बस, यही पहली झाँकी थी।

ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया, त्यों-त्यों हिन्दी के नूतन साहित्य की ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। क्वींसकॉलेज में पढ़ते समय स्वर्गीय बा० रामकृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के सहपाठियों में थे। भारतजीवन-प्रेस की पुस्तकें प्राय: मेरे यहाँ आया करती थीं ; पर अब पिताजी उन पुस्तकों को छिपा कर रखने लगे। उन्हें डर हुआ कि कहीं मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाय—मैं बिगड़ न जाऊँ। उन्हीं दिनों प० केदारनाथजी पाठक ने एक हिन्दी-पुस्तकालय खोला था। मैं वहाँ से पुस्तकें ला-लाकर पढ़ा करता। एक बार एक आदमी साथ करके मेरे पिताजी ने मुझे एक बारात में काशी भेजा। मैं उसी के साथ घूमता-फिरता चौखंभे की ओर जा निकला। वहीं पर एक घर में से प० केदारनाथजी पाठक निकलते दिखाई पड़े। पुस्तकालय में वे मुझे प्राय: देखा करते थे। इससे मुझे देखते ही वे वहीं खड़े हो गये। बात-ही-बात में मालूम हुआ कि जिस मकान में से वे निकले थे, वह भारतेन्दुजी का घर था। मैं बड़ी चाह और कुतूहल की दृष्टि से कुछ देर तक उस मकान की ओर, न जाने किन भावनाओं में लीन होकर, देखता रहा। पाठकजी मेरी यह भावुकता देख बड़े प्रसन्न हुए और बहुत दूर तक मेरे साथ बात-चीत करते हुए गये। भारतेन्दुजी के

मकान के नीचे का यह हृदय-परिचय बहुत शीघ्र गहरी मैत्री में परिणत होगया।

१६ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते तो समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों की एक ख़ासी मंडली मुझे मिल गई। जिनमें श्रीयुत काशीप्रसादजी जायसवाल, बा० भगवानदासजी हालना, प० बदरीनाथ गौड़, प० उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नये-पुराने लेखकों की चर्चा बराबर इस मंडली में रहा करती थी। मैं भी अब अपने को एक लेखक मानने लगा था। हम लोगों की बात-चीत प्राय: लिखने-पढ़ने की हिन्दी में हुआ करती, जिसमें 'निस्सन्देह' इत्यादि शब्द आया करते थे। जिस स्थान पर मैं रहता था, वहाँ अधिकतर वकील-मुख्तारों तथा कचहरी के अफ़सरों और अमलों की बस्ती थी। ऐसे लोगों के उर्दू-कानों में हम लोगों की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इसीसे उन्होंने हम लोगों का नाम 'निस्सन्देह लोग' रख छोड़ा था। मेरे मुहल्ले में कोई मुसलमान सब-जज आगये थे। एक दिन मेरे पिताजी खड़े-खड़े उनके साथ कुछ बात-चीत कर रहे थे। इसी बीच मैं उधर जा निकला। पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए उनसे कहा—'इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक़ है'। चट जवाब मिला—'आप को बताने की ज़रूरत नहीं। मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाक़िफ़ हो गया'। मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी, यह इस समय नहीं कह सकता। आज से तीस वर्ष पहले की बात है।

चौधरी साहब से तो अब अच्छी तरह परिचय हो गया था। अब उनके यहाँ मेरा जाना एक लेखक की हैसियत से होता था। हम लोग उन्हें एक पुरानी चीज़ समझा करते थे। इस पुरातत्व की दृष्टि में प्रेम और कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि चौधरी साहब एक ख़ासे हिन्दुस्तानी रईस थे। बसन्त पञ्चमी, होली, इत्यादि अवसरों पर उनके यहाँ खूब नाच रंग और उत्सव हुआ करते थे। उनकी हर एक अदा से रियासत और तबीयतदारी टपकती थी। कन्धों तक बाल लटक रहे हैं। आप इधर से उधर टहल रहे हैं। एक छोटा-सा लड़का पान की तश्तरी लिये पीछे-पीछे लगा हुआ है। बात की काट-छाँट का क्या कहना है! जो बातें उनके मुँह से निकलती थीं, उनमें एक विलक्षण वक्रता रहती थी। उनकी बात-चीत का ढंग उनके लेखों के ढंग से एक दम निराला होता था। नौकरों तक के साथ उनका सम्वाद सुनने-लायक होता था। अगर किसी नौकर के हाथ से कभी कोई गिलास वग़ैरह: गिरा, तो उनके मुंह से यही निकलता कि 'कारे बचा त नाहीं।' उनके प्रश्नों के पहले 'क्यों साहब' अक्सर लगा रहता था।

वे लोगों को प्राय: बनाया करते थे, इससे उनसे मिलनेवाले लोग भी उन्हें बनाने की फ़िक्र में रहा करते थे। मिर्ज़ापुर में पुरानी परिपाटी के एक बहुत ही प्रतिभाशाली कवि रहते थे, जिनका नाम था—वामनाचार्य गिरि। एक दिन वे सड़क पर चौधरी साहब के ऊपर एफ कवित्त जोड़ते चले जा रहे थे। अन्तिम चरण रह गया था कि चौधरी साहब अपने बरामदे में कन्धों पर बाल छिटकाये खम्भे के सहारे खड़े दिखाई पड़े। चट कवित्त पूरा हो गया और वामनजी ने नीचे से वह कवित्त ललकारा, जिसका अन्तिम अंश था—'खम्भा टेकि खड़ी जैसे नारि मुगलाने की।'

एक दिन कई लोग बैठे बातचीत कर रहे थे, कि इतने में एक पण्डितजी आ पहुँचे। चौधरी साहब ने पूछा—'कहिये क्या हाल है?' पण्डितजी बोले—कुछ नहीं, आज एकादशी थी, कुछ जल खाया है और चले आ रहे हैं।' प्रश्न हुआ—'जल ही खाया है कि कुछ फलहार भी पिया है।'

एक दिन चौधरी साहब के एक पड़ोसी उनके यहाँ पहुँचे। देखते ही सवाल हुआ—'क्यों साहब, एक लफ़्ज़ मैं अक्सर सुना करता हूँ; पर उसका ठीक अर्थ समझ में न आया। आख़िर घनचक्कर के क्या मानी हैं, उसके क्या लक्षण हैं?' पड़ोसी महाशय बोले—'वाह, यह क्या मुश्किल बात है। एक दिन रात को सोने के पहले काग़ज़-कलम लेकर सवेरे से रात तक जो-जो काम किये हों, सब लिख जाइये और पढ़ जाइये।'

मेरे सहपाठी पण्डित लक्ष्मीनारायण चौबे, बा० भगवानदास हालना, बाबू भगवानदास मास्टर—इन्होंने उर्दू-बेगम नाम की एक बड़ी ही विनोद-पूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसमें उर्दू की उत्पत्ति, प्रचार, आदि का वृत्तान्त एक कहानी के ढंग पर दिया गया था।—इत्यादि कई आदमी गर्मी के दिनों में

(शेषांश २ रे पृष्ठ के नीचे)

आदमी की पहचान

लेखक—श्रीयुत प० रामनारायणजी मिश्र, बी० ए०

दूसरों को भला-बुरा कहने में लोग बहुत जल्दी करते हैं—विशेषकर बुरा कहने में। १९०१ ईस्वी में, जब मैं बस्ती ज़िले का डिप्टी इन्सपेक्टर होकर गया, तब बहुत-से लोगों ने मुझसे कहा कि सबसे तो आपकी बन जायगी; पर एक सब डिप्टी इन्सपेक्टर से—जिनका नाम मुन्शी जगदीशप्रसाद था—नहीं बनेगी। मुझसे कहा गया कि वे बड़े टेढ़े आदमी हैं।

मेरे बस्ती पहुँचने पर, जितने और सब डिप्टी इन्सपेक्टर थे, मिलने आए; पर मुंन्शी जगदीशप्रसाद दौरे पर ही रहे। बहुत दिनों के बाद, जब उनका दौरा समाप्त हुआ और वह सदर में आये, तब मुझसे मिले। धीरे-धीरे मेरी जान-पहचान उनसे बढ़ गई। उन्होंने कायस्थ-कुल में जन्म लिया था और काशी के त्रिलोचन महल्ले में उनका घर था। चारों तरफ उनकी बुराई सुनते-सुनते मैं थक गया था। एक दिन मैंने उनसे कहा कि आइए, हम-आप महीने-पन्द्रह दिन एक साथ दौरा करें। हम-आप अलग-अलग स्कूल देखेंगे; पर रहेंगे एक साथ। उन्होंने इसको स्वीकार किया।

थोड़े ही दिनों में मुझ पर प्रकट हो गया कि वे बड़े ऊँचे दर्जे के आदमी हैं; परन्तु रूखे हैं। केवल रुखाई के कारण, उनके उज्ज्वल गुणों को लोगों ने नहीं पहचाना।

वे बैलगाड़ी पर दौरा किया करते थे, समय बचाने के लिये शाम को भोजन के उपरान्त बैलगाड़ी में सो रहते थे, और सवेरा होते-होते दूसरे स्थान पर पहुँच जाते थे।

नियम यह है, कि सदर से पाँच मील के अन्दर भत्ता नहीं मिलता। पाँच मील, या इससे अधिक जाने पर मिलता है। वे अपने सिद्धान्त पर इतने दृढ़ थे, कि जिस दिन बस्ती से रवाना होते, रात को अपनी नींद खराब करके देख लेते, कि बारह बजे से पहले पाँच मील पूरे होगये या नहीं। यदि पाँच मील में थोड़ा भी कम होता, तो वह उस दिन का भत्ता नहीं लेते थे।

स्कूलों के डिप्टी लोग उन दिनों सुदर्रिसों से आटा-दाल तक लिया करते थे। मुन्शी जगदीशप्रसाद तो गाँव के जमीन्दारों और रईसों का भी निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे। किसी से बर्तन भी मंगनी नहीं माँगते थे। लोग उन्हें बुरा कहते थे; पर वे बहुत अच्छे निकले।

इस प्रकार का अनुभव मुझे कई बार हुआ है। जिनको लोगों ने बुरा बतलाया, उनको मैंने अच्छा पाया। कहा जाता है, कि संसार में कोई भी फूल-पत्ती ऐसी नहीं है, जिसमें औषध का गुण न हो और कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जिसकी प्रकृति में थोड़े-बहुत देवताओं के भाव न हों। इस लिए 'किसी को बुरा कहने में जल्दी न करो'—यह सबक़ मुझे अपने ही जीवन में कई बार मिला है।

बरेली से जब मैं जौनपुर बदल कर आया था, उस समय भी लोगो ने वहाँ के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सेक्रेटरी, बा० घनश्यामदास के सम्बन्ध में, जो वहाँ डिप्टी कलेक्टर थे, बड़ी भयानक बातें बतलाई थीं। थोड़े ही दिनों के व्यवहार से मैंने उनको बड़ा कार्य-दक्ष और परिश्रमी पाया। वे चाहते थे कि सब लोग उनके-जैसे हो जाएँ; इसलिए आलसी और ढीले लोग उनकी निन्दा करते थे। शिक्षा-प्रचार की उन्हें धुन थी; इसलिए हम लोगों में परस्पर बहुत प्रेम होगया।

आदमी को पहचानना बहुत कठिन काम है। किसी आदमी के पूरे गुण उसके जीवन के केवल एक अङ्ग को लेकर नहीं जाने जा सकते। मनुष्य की पूरी परीक्षा उसके घरेलू जीवन और सार्वजनिक

जीवन दोनों को दृष्टिगोचर रखने से हो सकती है। सम्भव है, कि उसके नौकर-चाकर और स्त्री-बच्चे, जो राय उसके बारे में रखते हों, उसमें और उन लोगों की राय में अन्तर हो, जो उसके साथ व्यापार आदि में सम्बन्ध रखते हों। मनुष्य की मनोवृत्ति को जानना बड़ी जटिल समस्या है। उसका स्वभाव किस समय किस बात से प्रेरित होकर क्या करेगा, साधारणतः यह बतलाना कठिन है। लार्ड रौबर्ट्स थे तो बड़े बहादुर सेनापति; पर बिल्ली से डरते थे। उन्हें बिल्ली से डरते समय देखकर कौन कह सकता था, कि वे एक साम्राज्य के सेनाध्यक्ष हैं; परन्तु थे वे प्रबल सैनिक, जिनका लोहा उनके बहुत-से प्रतिद्वन्द्वी लोगों को मानना पड़ा था; इसलिये किसी की एक कमज़ोरी देखकर उसके सारे जीवन पर लांछन न लगाना चाहिए।

एक दिन एक मित्र से एक सभा में वाद-विवाद हो गया। पाँच-छः दिनों बाद वे सड़क पर मुझसे मिले और सामना बचाते हुए बग़ल से निकल गये। मैंने सोचा, कि वे उस दिन की बहस से अप्रसन्न हो गये हैं; परन्तु दो ही दिन के बाद मालूम हुआ, कि उस दिन उनकी प्यारी बहन का देहान्त हो गया था; इसलिये परेशानी की हालत में वे मेरे पास से चले गये। उसके बाद जब वे मिले, उन्होंने पूर्ववत स्नेह प्रकट किया। कोई इस प्रकार की घटना हो भी जाय, तो उदारता की दृष्टि से उसको देखना चाहिए।

एक दिन भिनगा नरेश स्वर्गवासी राजा उदयप्रतापजी ने मुझसे कहा कि जब तक पूरी तरह से जाँच न लो, किसी का विश्वास न करो। मैंने कहा,—मेरा सिद्धान्त इसका उल्टा है; अर्थात्—जब तक इसका प्रमाण न मिल जाय, कि अमुक आदमी चोर है, उस पर पूरा विश्वास करो। राजर्षि उदयप्रतापसिंहजी बड़े कार्य-दक्ष, बड़े दानी और बड़े बुद्धिमान थे; परन्तु प्रायः सबको वह सन्देह की दृष्टि से देखते थे। दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने ठीक कहा है, कि जो अविश्वास से जीवन आरम्भ करता है, वह अपना और दूसरे का जीवन दुःखमय बना देता है और जो जगत् में विश्वास से काम लेता है, उससे संसार सचाई का व्यवहार रखता है। इस वाक्य की सत्यता ग़ौरप जाकर एक क्षण में मालूम हो जाती है। वहाँ यात्री रेल के कुलियों का विश्वास करते हैं, और जहाँ कह देते हैं, वहीं उनका असबाब पहुँच जाता है। बैंक वाले चेक देखते ही रुपया दे देते हैं और पीछे हिसाब करते हैं कि चेक देने वाले के जिम्मे बैंक में रुपया है या नहीं। इसका परिणाम यह है कि आपस के विश्वास के कारण एक हज्जाम भी तीन-चार साथियों से मिलकर एक दूकान खोल लेता है और सब मिलकर कमा खाते हैं। उन देशों में अधिक व्यापारी आपस में मिल-जुल कर ही काम करते हैं। वहाँ किसी दूकानदार के यहाँ आप आध घन्टे तक भी चीज़ें देखते रहिए और कुछ भी न लीजिये, तब भी वह आपको धन्यवाद देगा और कहेगा कि आज नहीं तो कल सही; आप कभी-न-कभी तो हमारे ऊपर कृपा करेंगे। इस प्रकार वे निराशा में भी आशा का आवाहन करते हैं और अपने को, और जिनसे संसार में काम पड़ता है, उनको प्रसन्न रखते हैं। वे मनुष्यों को बुरा कहने में जल्दी नहीं करते और सदा अपने को प्रसन्न चित्त रखते हैं। इश्वर के जगत् में आशा की नदी बहती है, कोई उसमें से एक लुटिया भर लेता है, कोई एक लोटा, कोई गगरा; कुछ अभागे लोग नदी का बहाव ही देखते रह जाते हैं; पर उसमें आचमन करने का भी उनको अहोभाग्य नहीं प्राप्त होता।

मैं—

लेखक—श्रीयुत प० विनोदशंकर व्यास

'तुमने अपने भविष्य का क्या लक्ष्य रक्खा है? कुछ समझ नहीं पड़ता।'

'कुछ नहीं'—मैंने लापरवाही से कहा।

'क्या घर में अधिक पैसे हैं?'

'अधिक तो नहीं हैं।'

तब स्कूल क्यों आते हो? जब पढ़ना-लिखना नहीं है, तो यहाँ भी अन्य बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।'

'घर पर मन नहीं लगता; इसलिये स्कूल आता हूँ'— स्वाभाविक गति से मैंने कहा।

वह चुपचाप चले गये। वह स्कूल के सम्मानित अध्यापक थे। वह मेरा बड़ा आदर करते थे; क्योंकि कक्षा में कभी किसी अन्य विद्यार्थी पर बिगड़ते, तो मेरा नाम लेकर कहते—'तुम भी उसी की तरह बनना चाहते हो?'

मेरा नाम सुनते ही दर्जे के सभी विद्यार्थी मेरी ओर देखने लगते। अन्तिम बेंच पर बैठा हुआ, लज्जित भाव से, मैं अपना मस्तक ऊँचा करता। सब हँस पड़ते। यही मेरी विशेषता थी।

यह सौभाग्य मुझे उस समय प्राप्त हुआ था, जब मैं ऊँचे दर्जे में चला गया था! उस समय मैं स्वतंत्र हो गया था—स्वतंत्र उस भाव में, जिसका अर्थ होता है 'आवारा'!

मेरे पितामह का देहान्त हो चुका था। घर में कोई शासन करनेवाला न था। मेरे पिता तो बहुत पहले ही—भरी जवानी में—चल बसे थे; उस समय मेरी अवस्था चार वर्ष की थी—मेरा छोटा भाई एक वर्ष का था। हम दोनों ही वंश के दीपक थे, अतएव प्यार की भूमि पर खेलता हुआ बचपन आगे बढ़ा।

अपने पिता के सम्बन्ध में तो कुछ भी स्मरण नहीं है। उनके सम्बन्ध में मेरी दादी कहती हैं कि वह बड़े सच्चरित्र, विद्याव्यसनी और गम्भीर पुरुष थे। उनकी जीवन-कहानी सुनकर आज भी हम लोगों की आँखें डबडबा उठती हैं।

वह कवि थे। 'रसिक मित्र' आदि उस समय के पत्रों में बराबर उनकी समस्या-पूर्तियाँ निकला करती थीं। हिन्दी का वह आरम्भिक युग था। १९०५ या ६ की 'सरस्वती' में उनकी अँग्रेज़ी से अनुवादित कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। उसी समय 'पीयूष-प्रवाह' नामक मासिक-पत्र उन्होंने (दूसरी बार) निकालना आरम्भ किया था; किन्तु उसके केवल सात अंक ही निकल पाये, और वह अपने कार्यक्रम को अधूरा छोड़कर चले गये! उनका नाम था—प० कालीशंकर व्यास।

बचपन से ही मेरी पढ़ाई पर मेरे पितामह बड़ा ध्यान रखते थे। घर पर कई मास्टर आते थे। आरम्भ से ही पढ़ने में मेरी रुचि न थी। मैं मास्टरों से मुँह छिपाकर घर में घुस जाता था। दादी के लाड़-प्यार ने मुझे निडर बना दिया था।

पितामह की वृद्धावस्था थी। वह प्रायः बीमार ही रहा करते थे। रोगों ने उनके शरीर में अपना घर बना लिया था। ऐसी अवस्था में भी उनका अधिकांश समय होम-पूजा और पुराणों के पाठ में ही व्यतीत होता था।

मैं बाल्यावस्था से ही आत्माभिमानी हूँ। मुझे याद है, एक बार, मेरी पढ़ाई के सम्बन्ध में पूछते हुए, रुष्ट होकर, उन्होंने मेरा कान पकड़ लिया था। मैं रोता हुआ घर में चला गया। प्रति दिन का नियम था कि प्रातःकाल उठकर मैं उन्हें प्रणाम करने जाता था। लेकिन उसके बाद छः-सात दिनों तक मैं उनके सामने नहीं गया। अन्त में कई बार बुलवाने पर मैं उनके सामने गया। मुझे देखकर वह मुस्कुराये और प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरने लगे। मैं रोता रहा।

पितामह मेरे बड़े विद्वान थे। उन्होंने अनेकों पुस्तकें लिखी थीं। बाबू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की उपाधि देने का उन्होंने प्रस्ताव किया था। वह उनके अन्तरंग मित्रों में से थे। कई पत्रों के वह अवैतनिक सम्पादक भी थे। उनका नाम था—प० रामशंकर व्यास। हमारे सौभाग्य से उनकी पत्नी (दादी) आजतक जीवित हैं, जो रामायण के यशस्वी टीकाकार स्व० प० रामेश्वर भट्ट की सगी छोटी बहन और लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिन्दी-प्रोफेसर प० बदरीनाथ भट्ट की सगी बुआ हैं।

१९१६ में मेरे पितामह का देहान्त हुआ। अचानक हमारी छोटी-सी गृहस्थी पर वज्रपात हुआ। उस समय १४ वर्ष कई महीनों की मेरी अवस्था थी।

मैं स्कूल बराबर जाता रहा—एक-एक कक्षा में दो-दो वर्ष फेल होता रहा! हिसाब में सदैव लड्डू पाता था। अन्त में किसी तरह (प्रमोटेड होकर) आगे के दर्जे में जाता। इसी भाँति मेरे पठन-पाठन का क्रम चलता रहा।

उस वर्ष मैं छठी कक्षा में पहुँचा। मेरे विवाह की तैयारी होने लगी। मेरे मन में भी एक विचित्र कौतूहल की सृष्टि हुई। घर में चहल-पहल मची। मेरी माँ और दादी की बड़ी लालसा थी, कि मेरा विवाह हो जाय और घर में एक छोटी-सी बहू आ जाय। उन लोगों के उल्लास ने मेरी अबोध प्रसन्नता को पुचकारा।

शुभ मुहूर्त्त में मँडप में मेरा विवाह होने लगा। मेरी पत्नी मेरे बगल में बैठी थी। पंडितों के गड़बड़ मन्त्रोच्चारण को मैं भी दोहराता गया। स्त्रियाँ गा रही थीं। शहनाई बज रही थी। हा-हा-हू-हू के स्वर में सब व्यस्त थे।

उसी मन्त्र-पूजा के प्रयोग में मैंने अपनी पत्नी का मुँह देखा। वह साहित्य में वर्णित कवि कल्पनासी-सुन्दरी नहीं थी। मेरा उत्साह गहरा धक्का खाकर गिर पड़ा। विवाह का कार्य समाप्त हुआ। मैं चुपचाप रात-भर रोता रहा। मेरी गोरी-सी—सुन्दर-सी—कल्पना नष्ट हो गई थी। आह! जीवन के दिन कैसे कटेंगे!

• • •

स्कूल में विवाहित लड़कों के रखने का नियम नहीं था। मैंने स्कूल छोड़ दिया। मित्रों (!) की संख्या बढ़ने लगी। बीसवीं सदी की छत्रछाया में जीवन अग्रसर होने लगा। लोगों के कहने से एक दूसरे स्कूल में फिर भर्ती हुआ; लेकिन कुछ महीनों के बाद वहाँ भी दिल नहीं जमा। अन्त में उसे भी छोड़कर बेकारी से घनिष्ठता कर ली।

उस समय मेरे अनेक व्यसनों में एक उपन्यास पढ़ना भी था। मैं बचपन से भावुक था। मनोरंजन के लिये पुस्तकें पढ़ता, ताश खेलता, हारमोनियम बजाता, हाहा-हीही करता। यही मेरी दिनचर्या थी।

मेरे पितामह, मेरे लिये, पुस्तकों से भरी हुई दो बड़ी अलमारियाँ छोड़ गये थे। मैं उनमें से अपना दिल बहलाने की सामग्री खोजता था। उसमें पत्रिकाओं की फाइलें भी थीं। 'सरस्वती' की फ़ाइल मेरी बड़ी प्रिय वस्तु बन गई। उसकी कहानियाँ और कविताएँ मैं बड़े ध्यान से पढ़ने लगा। उन्हीं दिनों तुकबन्दी भी बनाने लगा। कविता करने की धुन समा गई थी।

एक दिन एक तुकबन्दी बनाकर अपने बगलवाले मकान में गया। उसमें स्व० प० राधाकुमार व्यास रहते थे। वह प० अम्बिकादत्त व्यास के पुत्र थे। प० अम्बिकादत्त व्यास मेरे पितामह के बड़े

ही घनिष्ठ मित्रों में थे। प० राधाकुमार व्यास मेरे पिता को बड़े भाई की तरह मानते थे। हमारे और उनके खानदान से कई पुश्त का साथ था।

मैंने उनके सामने पहुँच कर कहा—'चाचा, आज एक कविता लाया हूँ, इसे शुद्ध कर दीजिये।'

वह पढ़ कर मुस्कुराये। कहने लगे—'यह रास्ता अच्छा नहीं है। इसमें पड़ कर मनुष्य अपने को बरबाद कर देता है—रसिकता की मात्रा बढ़ने लगती है; फिर वह दुनिया में कुछ भी नहीं कर पाता।' यही उनके शब्द थे।

पड़ोस में रहने के कारण, मेरी बेकारी के कार्य-क्रम से, वह अप्रत्यक्ष रूप में परिचित थे। मेरी रसिकता के सम्बन्ध में भी उनकी जानकारी थी। समय-समय पर मैं छन्दों के सम्बन्ध में भी उनसे पूछताछ करता था। उन्होंने कविता ठीक कर दी। पत्रों में मेरी तुकबन्दी छपने लगी। उत्साह बढ़ा।

• • •

उन्हीं दिनों अपने काका प० हरिशंकर भट्ट के सत्संग से साहित्य की ओर मेरी रुचि बढ़ने लगी। वह उस समय हिन्दू-विश्वविद्यालय में पढ़ते थे और हमी लोगों के साथ रहते थे। वह मेरे पितामह के भाँजे हैं। वह भी उस समय कविता करते थे। उनकी कविताएँ सुन्दर होती थीं। मेरी बेकारी की दिनचर्या उन्हें पसन्द न थी; पर कभी कुछ कहते न थे। गम्भीरता उनकी विशेषता है।

हम दोनों की साहित्यिक रुचि का एक साथ विकास हुआ था। वह अपनी लिखी रचनाएँ मुझे सुनाते और मैं उन्हें। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा—'आखिर तुमने अपने जीवन का लक्ष्य क्या रक्खा है? इस तरह कितने दिन चलेंगे?'

मैंने उनकी ओर देखते हुए कहा—'मैं लेखक बनूँगा। मैं चित्रकारी भी सीखना चाहता हूँ।'

उन्होंने गम्भीर मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया—'लेकिन लेखक बनने के लिये भी अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। अभी तुमने पढ़ा ही क्या है?'

मैंने जिज्ञासा-भरे स्वर में पूछा—'तब पढ़ूँ कैसे? स्कूल में भी मन नहीं लगता। बहुत-से विषय समझ में नहीं आते। ज्यामेट्री, अलजबरा और अर्थमेटिक मेरे जानी दुश्मन हैं!'

उन्होंने कहा—'परिश्रम करो। जो आज तुम्हें कठिन मालूम पड़ता है, वह फिर बहुत आसान हो जायगा।'

उनकी बातों का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी दिन मैंने फिर से स्कूल में नाम लिखाने का निश्चय कर लिया। दिन-भर पढ़ने लगा। गर्मी के दिन थे, सब स्कूल बन्द थे। घर पर दो महीने पढ़कर, स्कूल खुलने पर, नवीं कक्षा में भर्ती किया जाऊँगा—ऐसा निश्चय हुआ। मैं उन्हीं से अंक-गणित समझने की चेष्टा करने लगा। वह हिसाब में बचपन ही से तेज़ थे। अन्त में उन्होंने हिसाब में ही एम० ए०—फर्स्टडिवीजन में—पास किया था। आजकल दिल्ली के अरेबिक कॉलेज में मेथमेटिक्स के प्रोफेसर हैं।

स्कूल खुलने पर मैं भर्ती हो गया। दो वर्षों तक फिर स्कूल जाता रहा। मैट्रिक का परीक्षा-काल निकट था। हिसाब में पास होने की कोई सम्भावना न थी। साथ ही, 'परसेंटेज' भी कम था; अतएव फिर स्कूल छोड़कर बैठ गया।

मैं स्कूल में भी प्रायः उपन्यास ही लेकर जाता था। उस समय अँगरेजी के उपन्यासों की ओर भी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। अँगरेजी और हिन्दी में मैं तेज़ था, इसलिये अँगरेजी के उपन्यास पढ़ते-पढ़ते उन्हें समझने का अभ्यास हो गया—दिलचस्पी काफ़ी बढ़ गई। फल-स्वरूप इस बार स्कूल छोड़ने के बाद उपन्यास और कहानियों से गाढ़ा स्नेह हो गया। अब दिन-रात घर पर, पलँग पर पड़े-पड़े, उपन्यासों ही के साथ समय काटने लगा। मेरे हृदय पर नागरिक जीवन का सिक्का जमने लगा। अब यहाँ महाकवि बिहारीलाल की यह उक्ति अंकित करके ही इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ—

'किते न अवगुन जग करत, नय बय चढ़ती बार।'

हाँ, तो मेरे उपन्यास-पाठ का क्रम जारी रहा। दिन-रात पढ़ता ही रहता था। कभी-कभी मेरी दादी कहतीं कि इस तरह दिन-रात पढ़ने से दिमाग़ ख़राब हो जायगा; पर मैं किसी की न सुनता। उपन्यास ही मेरी ख़ुराक बन गये, मुझे और कुछ भी अच्छा न लगता; किन्तु साथ-साथ स्त्रियों की मनोवृत्ति के अध्ययन में भी कुछ समय जाता था! स्वच्छन्द होने के कारण अनेक प्रकार की सुविधाएँ भी प्राप्त थीं।

उन्हीं दिनों कहानी लिखने की प्रवृत्ति हुई। मैंने दो-एक कहानियाँ लिखीं; पर वे बहुत सुन्दर न थीं। बस, इसके बाद ही मेरे साहित्यिक जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन हुआ। बाबू जयशंकर 'प्रसाद'जी से मेरा परिचय हुआ। 'प्रसाद' जी के खानदान से हम लोगों का कई पुश्त का संबन्ध था; अतः 'प्रसाद'जी से दिन-दिन घनिष्ठता बढ़ने लगी। मैं प्रतिदिन उनके पास जाता। वहाँ प्रायः साहित्यिक विषयों पर ही वार्त्तालाप होता। लगभग सभी छोटे-बड़े लेखक और कवि वहाँ आते थे। 'प्रसाद'जी के सत्संग ने मेरे जीवन की धारा पलट दी—एक नई लहर बह चली। उन्हीं के उत्साहित करने पर मैंने कहानियाँ लिखीं। उनके संशोधन और आदेश सदैव मेरे पथ को आलोकित करते रहे। अपने साहित्यिक जीवन के विकास में मैं सबसे अधिक उन्हीं का ऋणी हूँ।

• • •

ईश्वर की दया से मेरी कोई रचना कभी पड़ी न रही, लिखने के साथ ही पत्र-पत्रिकाओं में छपती चली गई। दो वर्ष के भीतर मेरी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं। आरम्भिक कहानियों का संग्रह 'नवपल्लव' नाम से निकला। सबसे पहला उपन्यास 'अशान्त' भी शीघ्र छप गया। दूसरा कहानी-संग्रह 'तूलिका' नाम से प्रकट हुआ।

मेरी छोटी कहानियों को हिन्दी-संसार ने पसन्द किया—अपनाया। कुछ लोगों को कौतूहल हुआ, कुछ लोग उनमें कला का चमत्कार देखने लगे, कुछ लोग उन्हें व्यर्थ भी समझने लगे। मैंने कभी किसी की परवा नहीं की। केवल अपनी ही प्रसन्नता के लिये लिखता रहा।

प्रकाशकों की कृपा से कुछ कटु अनुभव भी हुए। तब मैंने स्वयं 'पुस्तक-मन्दिर' की स्थापना की। केवल उपन्यास और कहानियों की अच्छी पुस्तकें निकालने का निश्चय किया। पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। 'मन्दिर' को स्थापित हुए दो साल हो गये। अब तक करीब एक दर्जन उपन्यास-कहानी-सम्बन्धी पुस्तकें निकल चुकी हैं, जिनकी सुन्दरता को समस्त हिन्दी-संसार ने सराहा है। बस, पुस्तक-प्रकाशन जो मेरी ज़िन्दगी का एक मिशन था, वह ईश्वर की कृपा से पूरा हो रहा है। अब इधर 'पुस्तक-मन्दिर' से एक शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र निकल रहा है। उसका नाम 'जागरण' है।

• • •

मेरे इस जीवन को, समय के पद-चिन्हों पर दौड़ते हुए, २९ वर्ष और कई महीने बीत गये। अब मैं एक गृहस्थ के रूप में हूँ। मेरी एक हरी-भरी गृहस्थी है। दो लड़के, दो लड़कियाँ, मेरी स्त्री, मेरी दादी, मेरी माँ, मेरा छोटा भाई और उसकी पत्नी। मेरा एक छोटा-सा संसार है। मैं सुखी हूँ। प्रसन्न रहता हूँ।

अभी उस दिन मैंने अपनी श्रीमतीजी से दिल्लगी में पूछा—'भगवान भी कैसा विचित्र है कि उसने अपने वसीयतनामे में मेरे लिये तुम-जैसी सुन्दरी का नाम लिख दिया है!'

उसने झेंपीली हँसी से उत्तर दिया—'मैं सुन्दर नहीं हूँ तो क्या, मेरा भाग्य तो सुन्दर अवश्य ही है।'

पता नहीं, उसकी यह धारणा कहाँ तक सत्य है!

'मतवाला' कैसे निकला

लेखक—श्रीयुत शिवपूजनसहायजी

'हंस' का यह 'आत्मकथांक' है। इसमें आत्मकथा ही लिखनी चाहिये; किन्तु मेरी आत्म-कथा, आरम्भ से आज तक, इतनी भयावनी है कि सचमुच यदि मैं ठीक-ठीक लिख दूँ, तो बहुत-से लोग विष खाकर सो रहें, या नहीं तो मेरे ऊपर इतने अधिक मान-हानि के दावे दायर हो जायँ, कि मुझे देश छोड़कर भाग जाना पड़े। इसलिये मैं सब बातों को छिपाकर आत्मकथा नहीं लिखूँगा, और फिर मेरी आत्मकथा में कोई सीखने लायक सबक भी तो नहीं है। खैर, जाने दीजिये, 'मतवाला' की जन्म-कथा, संक्षेप में, सुन लीजिये; क्योंकि विस्तार करने पर फिर वही बात होगी।

सन् १९२०—२१ में महात्मा गान्धी के अहिंसात्मक असहयोग की आँधी उठी। मैं जंगल के सूखे पत्ते की तरह उड़ चला। पहले 'आरा' नगर (बिहार) के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था, अब वहीं के नये राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी-शिक्षक हुआ। कुछ महीनों तक छोटी-मोटी लीडरी ही रही। बाद में आरा के दो मारवाड़ी युवकों—नवरंगलाल तुलस्यान और हरद्वार प्रसाद जालान—के उत्साह से 'मारवाड़ी-सुधार' नामक सचित्र मासिक-पत्र, मेरे ही सम्पादकत्व में निकला। उसको छपवाने के लिये पूज्य प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा (स्वर्गीय) ने कलकत्ता में बालकृष्ण-प्रेस को ठीक किया। प्रथमाङ्क छपवाने के लिये मैं पहले-पहल कलकत्ता गया। इसके बाद धनी मारवाड़ियों से सहायता लेने के लिये हावरस, दिल्ली, इन्दौर, जयपुर, बम्बई आदि अनेक बड़े नगरों में महीनों घूमता फिरा। किसी तरह दो साल 'मारवाड़ी-सुधार' निकला। इसकी बड़ी लम्बी कहानी है।

'मारवाड़ी-सुधार' का अंतिम अंक जब छप रहा था, तब मैं कलकत्ता में था। उस समय 'बाल-कृष्ण-प्रेस' शंकरघोष लेने के मकान नं० २३ में था। वहीं मैं रहता था। प्रेस के मालिक बाबू महादेव-प्रसाद सेठ और मुन्शी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव प्रेस ही में रहते थे। ऊपर वाले खंड में राम-कृष्ण-मिशन के सन्यासी लोग थे, जिनके साथ पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी थे। 'निराला' जी रामकृष्ण कथा-मृत का अनुवाद और 'समन्वय' का सम्पादन करते थे। 'समन्वय' के संचालक स्वामी माधवानंद आचार्य द्विवेदीजी से माँगकर 'निराला' जी को वहाँ ले गये थे। और, मुन्शी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव उस समय 'भूतनाथ तैल' वाले प्रसिद्ध किशोरीलाल चौधरी की कोठी में मैनेजर थे। इसलिये अधिकतर चौधरीजी का ही काम प्रेस में होता था।

एक दिन मुन्शीजी बाज़ार से बँगला साप्ताहिक 'अवतार' खरीद लाये। वह हास्य-रस का पत्र था। शायद एक ही पैसा दाम था और शायद पहला ही अंक भी था; किन्तु उसी पर छपा था—

Guaranteed Circulation.0000000000001. मसाला भी बड़ा मजेदार था। खूब पढ़ा गया। सोचावट होने लगी—इसी ढंग का एक पत्र हिन्दी में निकाला जाय। रोज हर घड़ी चर्चा छिड़ी ही रहती थी। कितने ही हवाई किले बने और कितने ही उड़ गये। बहुत मन्थन के बाद विचारों में स्तम्भन आया। उसी दम बात तय हो गई। बीजारोपण हो गया। ता० २० अगस्त १९२३ रविवार को सिर्फ बात पक्की हुई। ता० २१ सोमवार को मुन्शीजी ने ही पत्र का नामकरण किया—'मतवाला'। मुन्शीजी को दिन-रात इसी की धुन थी। नाम को सबने पसन्द किया। अब कमिटी बैठी। विचार होने लगा—कौन क्या लिखेगा—पत्र में क्या रहेगा, इत्यादि। 'निराला' जी ने

कविता और समालोचना का भार लिया। मुन्शीजी ने व्यंग-विनोद लिखना स्वीकार किया। मैं चुप था। मुझमें आत्मविश्वास नहीं था। बैठा-बैठा सब सुन रहा था। सेठजी भंगका गोला जमाये सटक गुड़गुड़ा रहे थे। मुझसे बार-बार पूछा गया। डरते-डरते मैंने कहा—मैं भी यथाशक्ति चेष्टा करूंगा। सेठजी ने कहा—आप लीडर (अग्र-लेख) लिखियेगा, प्रूफ देखियेगा, जो कुछ घटेगा सो भरियेगा।

मैं दहल गया। दिल धड़कता था। मेरी अल्पज्ञता थरथराती थी। ईश्वर का भरोसा भी डगमगा रहा था। हड़कम्प समा गया। अथाह मँझधार में पड़ गया।

मुन्शीजी और सेठजी तैयारी में लग गये। स्तम्भों के शीर्षक चुने गये। डिजाइन, ब्लाक, कागज, धड़ाधड़ प्रेस में आने लगे। चारु बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिये 'नटराज' का चित्र बनाया, देखकर सबकी तबीयत फड़क उठी। 'निराला' जी ने कविता तैयार कर ली, समालोचना भी लिख डाली। मुन्शीजी भी रोज कुछ लिखते जाते थे। मैं हतबुद्धि-सा हो गया। कुछ सूझता ही न था। श्रावण की पूर्णिमा ता० २६ शनिवार को पड़ती थी। उस दिन 'मतवाला' का निकलना सर्वथा निश्चित था। युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था।

ता० २३ बुधवार की रात को मैं लिखने बैठा। कई बार कई तरह से लिखा और फाड़ डाला। बहुत रात बीत गई। नींद भी नहीं आती थी। दिमाग चक्कर काट रहा था। मन, जहाज का पक्षी हो रहा था। यकायक एक शैली सूझ पड़ी। लिखने लगा। भाव टपकने लगे। धारा चली। मन तृप्त हो गया। अग्रलेख पूरा करके सो रहा। सुबह उठते ही सेठजी ने माँगा। तब डरते-ही-डरते दिया; किन्तु ईश्वर ने लाज रख ली। सब ने पसन्द किया। शीर्षक था—'आत्म-परिचय'।

कुछ मैटर प्रेस में जा चुका था। उसका प्रूफ भी मैं देख चुका था। अब उत्साह बढ़ने पर मैंने भी कुछ 'बहक' और 'चलती चक्की' लिखी। श्रावणी संवत् १९८० शनिवार (२३ अगस्त १९२३) को 'मतवाला' का पहला अंक निकल गया। था तो साप्ताहिक, मगर मासिक-पत्र की तरह शुद्ध और स्वच्छ निकला। बाजार में जाते ही, पहले ही दिन, धूम मच गई।

वहाँ सब लोग यू० पी० के निवासी थे, केवल मैं ही बिहारी था; इसलिये मेरी भाषा का संशोधन 'निराला' जी कर दिया करते थे। 'मतवाला'-मण्डल में वही भाषा के आचार्य थे; किन्तु मुन्शीजी अपनी लिखी चीज में किसी को कलम नहीं लगाने देते थे। मुन्शीजी पुराने अनुभवी थे, कई अखबारों में रह चुके थे, उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे, हाथ मँजा हुआ था। सिर्फ मैं ही बुद्धू था। अनाड़ी था। नौ सिखुआ था। 'निराला'जी बड़े स्नेह के साथ मेरी लिखी चीजें देखते, संशोधन करते और परामर्श देते थे। उनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है। उनकी योग्यता का मैं कायल हूँ। फिर मुन्शीजी का तो कहना ही क्या! वह तो 'मतवाला'-मण्डल के प्राण ही थे। उनकी बहक का मज़ा मैं प्रूफ में लेता था। उनकी मुहावरेदार चुलबुली भाषा ने 'मतवाला' का रंग जमा दिया। 'निराला'जी की कविताओं और समालोचनाओं ने भी हिन्दी-संसार में हलचल मचा दी। वह भी एक अद्भुत युग था। यदि उस युग की कथा विस्तार से कहूँ, तो 'बाढ़े कथा पार नहिं लहऊँ'!

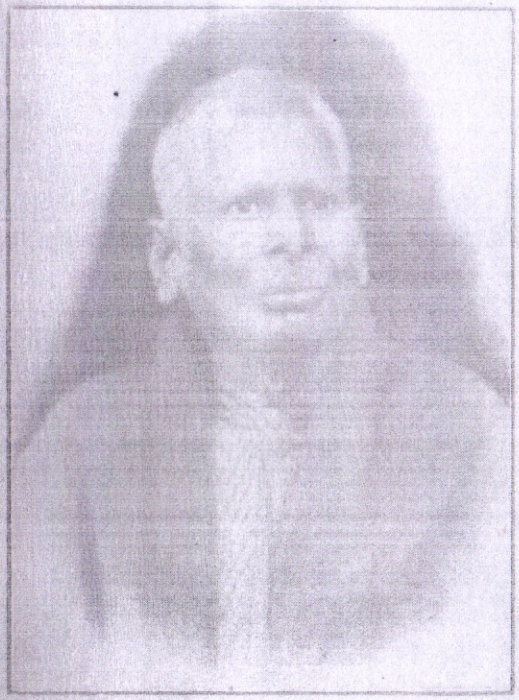

श्रीयुत प० केदारनाथजी पाठक

श्रीयुत राय कृष्णदास

प्रसाधिका

'प्रसाधिका' की प्राप्ति

लेखक—श्रीयुत राय कृष्णदासजी

जी में आया, जरा वृन्दाबन बाबू से मिलते चलिए। सन्ध्या के कोई साढ़े छः बजे का समय होगा; किन्तु अगहन-पूस का महीना था, अच्छी तरह रात हो चुकी थी—संभवतः १९२४ की बात है। मैं आदरणीय बाबू गोविन्ददास [1] से मिलकर लौट रहा था। वे अपने बाग़ में रहा करते थे, जो हिन्दू-विश्व-विद्यालय के रास्ते में, दुर्गाकुण्ड के सामने है। वहाँ से घर आते हुए, मार्ग में, श्री वृन्दाबन भट्टाचार्य का मकान पड़ता है। भट्टाचार्य महोदय हिन्दू-विश्व-विद्यालय के इतिहास-विभाग में उपाध्याय हैं और भारतीय मूर्त्ति-शास्त्र के पण्डित भी।

१९२० में मैं उनसे परिचित हुआ था। २१ में भारत-कला परिषद्—वर्त्तमान भारत-कला-भवन—के लिये उनसे प्राचीन मूर्त्तियों का एक संग्रह तथा उनकी लिखी 'इण्डियन इमिजेज़' की कुछ प्रतियाँ परिषद् के सदस्यों में वितरित करने के लिये खरीदी थीं। तब से उनसे अक्सर मिलना-जुलना हुआ करता। इधर-उधर से मूर्ति बटोरने में मैं एक प्रकार उन्हीं से दीक्षित हुआ था। अस्तु।

मैं उनसे मिलने के लिये उतर पड़ा। उन दिनों वे अपनी उक्त पुस्तक का दूसरा भाग—जैन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में—लिख रहे थे। कुछ देर इधर-उधर की बातें होने पर, उन्होंने अपनी पुस्तक का प्रस्तुत अंश सुनाने की और तत्सम्बन्धी चित्र दिखाने की इच्छा प्रकट की। मेरे लिये इससे प्रसन्नता का विषय और क्या हो सकता था। अस्तु। उन्होंने उसका एक अंश पढ़ सुनाया। मैं जानता हूँ कि मेरी सूचनायें उन्हें रुचिकर होती हैं; अतएव, उस अंश के सम्बन्ध में मुझे जो बातें सूझी थीं, उनसे कहीं और उनमें से अधिकांश उन्होंने उपयोग करने के लिये नोट कर लीं।

अब चित्रों के देखने की बारी आई। वृन्दाबन बाबू को ये चित्र बटोरने में विशेष श्रम करना पड़ा था, क्योंकि जैन-तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ तो प्रायः मिलती हैं; किन्तु उनके देवताओं की मूर्त्तियाँ बहुत कम पाई जाती हैं। जो मिलती भी हैं, उनका पहिचानना कठिन है; क्योंकि जैन देवताओं के ध्यान किसी ग्रन्थ में एकत्र नहीं मिलते। अतएव, उनका यह संग्रह देखकर प्रसन्नता हुई।

अधिकतर फोटो उन्हें पुरातत्व-विभाग शिमला से मिले थे, जहाँ इसी कार्य्य के लिये उन्होंने महीनों बिताया था। अपनी पुस्तक की सामग्री के अतिरिक्त, वे उस विभाग से अन्य ऐसी मूर्त्ति आदि के फोटो भी ले आये थे, जो उन्हें रुचे थे। ऐसे ही चित्रों में मुझे उन्होंने इस मूर्त्तिस्तम्भ का फोटो भी दिखाया। उसे देखते ही हृदय आनन्द से तरंगित हो उठा। एक बड़ी सुखद और व्यापक बिजली प्राणों को झन्ना उठी। बहुत देर तक उसे देखता रहा और उसकी प्रशंसा करता रहा।

१—बाबू साहब के विषय में स्वतन्त्र रूप से फिर लिखूँगा। यहाँ इतना कहना अलं होगा कि वे देश के खास आदमियों में से थे। बड़े ही स्वतन्त्रचेता, सतेज, उत्साही, निर्भीक और गुणज्ञ व्यक्ति थे। बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। काशी के एक प्रमुख रईस थे। आपके सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों में मौलिकता थी और लोक-समुदाय उनका आदर करता था, इस विषय के आपने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य का आपको व्यापक ज्ञान था। संस्कृत की हस्त-लिखित पुस्तकों के संग्राहक और तत्वज्ञ थे। काशी की ऐसी कोई सार्वजनिक संस्था नहीं, जो आपकी प्रेरणा, प्रोत्साहन और तन, मन तथा धन के सहाय्य की ऋणी न हो, अथवा जिसके निर्माण में आपका हाथ न रहा हो। आर्य्य भगवानदास आपके छोटे भाई हैं। आपके सत्संग का मुझ पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है।

उस समय उस फोटो से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह मूर्ति ऊँचाई में आठ फुट से कम न होगी। पटने के सीवान दीदारगंज में मिली और इस समय पटना-म्यूज़ियम में प्रदर्शित, सौन्दर्यकालीन चामर ग्राहिणी की मूर्त्ति इतनी ही ऊँची होगी। उसीका ध्यान मुझे बँधा हुआ था; अतः इसकी ऊँचाई के सम्बन्ध में ऐसी धारणा हुई। जो हो, मैं उस फोटो पर ऐसा रीझ गया कि भट्टाचार्यजी ने स्वेच्छा से सहर्ष उसे मुझको भेंट कर दिया। मैं खुशी-खुशी घर लौट आया और कुछ दिनों तक नियमित रूप से उस फोटो को दिन में कई बार देखता रहा। उसकी अनुपम कला, किसे अपना उपासक, अपना अनुगत न बना लेती, किसका हृदय न छीन लेती। मैं उससे साग्रह पूछा करता—'तुम कब कला-परिषद् में आ विराजोगी ?'

समय बीत चला—अपना काम करता हुआ—वह मूर्ति मुझे बिसरने लगी; किन्तु उसकी एक गहरी रेखा हृदय में अंकित हो चुकी थी—वह ऐसी लीक थी, जिसे समय भी नहीं मिटा सकता, जो जन्मान्तर में भी संस्कार-रूप में बनी रह जाती है। जब कभी वृत्ति उस ओर उन्मुख होती, उसके प्राप्त करने की दबी आँच उतने समय के संचित तेज के साथ धधक उठती। मैंने बात भगवान पर छोड़ तो दी थी; किन्तु हृदय कि अधीरता को क्या करता ?

यह डर भी सताया करता, कि यदि पुरातत्व-विभाग ने उसे हस्तगत कर लिया होगा, तो फिर कौन आशा।

(२)

कोई दो वर्ष बाद—

गर्मियों में एक दिन संध्या-समय भाई 'प्रसाद'जी और मैं 'रत्नाकर'जी के यहाँ गये। उन्होंने 'प्रसाद' जी से कई बार अनुरोध किया था कि—'भाई अपना 'आँसू' तो सुनाओ।' यह बात १९२६ के अप्रेल के दूसरे-तीसरे सप्ताह की है, उसके कुछ ही महीने पहले 'आँसू' निकला था और साहित्य-संसार में उसकी धूम मची हुई थी। अस्तु, रत्नाकरजी का अनुरोध प्रसादजी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था, और उसी के पालनार्थ हम वहाँ गये थे।

कुछ देर तक प्रसादजी उन्हें आँसू सुनाते रहे और वे मदुवर से मस्त नाग की तरह झूमते रहे। इसके बाद बात-चीत का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। रत्नाकरजी उस दिन ऐतिहासिक 'मूड' में थे। उन्होंने अपनी ताज़ी-से-ताज़ी ऐतिहासिक गवेषणाएँ सुनानी शुरू कीं।

एकाएक मानों स्वप्न से जाग कर उन्होने कहा—'हाँ साहब, आप लोग एक चीज तो देखिए—बताइए तो वह क्या है' साथ ही उन्होंने अवाज लगाई—'ले आओ हो ! जरा वह फोटोग्राफ तो ले आओ, जो उस दिन फैज़ाबाद में खींचा गया था'। फ़र्माबदार रियासती खिदमतगार ने अदब के साथ हुक्म की तामील की; और उन्होंने उससे लेकर हम लोगों के हाथों में एकही फोटो की दो कापियाँ रख दीं। 'प्रसाद' जी के लिए चित्रस्थ आकृति नई थी; किन्तु मैंने देखा कि वह उसी चिर परिचित प्रतिमा का एक नया फोटोग्राफ़ है, भभरा हुआ।

'प्रसाद'जी उसी ध्यान से देखने लगे। उधर मैंने रत्नाकरजी से उत्सुकता-पूर्वक पूछा कि फैज़ाबाद में यह मूर्ति कहाँ है और आपने कैसे यह फोटोग्राफ़ खिचवाया। मेरा हृदय आनन्द, कुतूहल और आशा से धड़क रहा था।

प्रसादजी भी उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने बताया कि फैज़ाबाद और अयोध्या के बीच, देवकाली नामक एक स्थान पर, एक मन्दिर में यह मूर्त्ति रक्खी है; वहीं पास ही एक खेत में मिली थी। मैंने कहा कि मैं बरसों पहले इसका एक सुन्दर फोटो पा चुका हूँ, जिसे पुरातत्व-विभाग ने उसी समय खिचवाया था, जिस समय यह खेत में से निकली थी।

रत्नाकरजी ने यह बात सुनी-अनसुनी कर दी। उनका ध्येय कुछ और था—मेरा कुछ और। वे यह जानना चाहते थे कि यह मूर्ति किसकी हो सकती है, मैं उसके सम्बन्ध में अपनी जानकारी बढ़ाया चाहता था।

गो, वे प्रसादजी की ओर मुखातिब हुए। उनसे बताने लगे कि मूर्ति के सिर के पीछे जो पर्श-वृत्त कटोरा है, वह भीतर से खोखला है; अतएव मैं इस निश्चय को पहुँचा हूँ कि इसका सम्बन्ध शुंगों की उस विजय से है, जिसमें उन्होंने ग्रीकों को साकेत से मार भगाया था। उस विजय के उपलक्ष्य में शुंग-कुल के संस्थापक सेनानी पुष्य मित्र ने विजया देवी का एक मन्दिर बनवाया था। वही विजया देवी यह हैं, इनके पीछे जो पात्र बना है, उसमें विजया (भाँग) भरी जाती रही होगी।

इसी सम्बन्ध में उन्होंने दो श्लोक भी सुनाए—

अनपेक्षितसाहसे धर्मे सम्वत्सरे शुभे। चैत्र मासे सिते पक्षे नवम्यां भृगुवासरे॥
साकेतं यवनान्मुक्त्वा विजयादेवि मन्दिरम्। सेनानी पुष्यमित्रेण कारितं ध्रुव कीर्तये॥

कहने लगे कि ये श्लोक अयोध्या के स्वर्गवासी महाराज को वहीं के कोई पण्डित यह कह कर सुनाया करते थे कि ये एक प्राचीन शिला पर उत्कीर्ण हैं, जो राजमहल के पास ही कहीं पड़ी है। जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों रत्नाकरजी का पुरातत्व की ओर विशेष आकर्षण न था; अन्यथा उन्होंने वह शिला उठवा मँगाई होती; जब उनकी प्रवृत्ति उधर हुई, तो वह शिला जाने क्या हो गई थी। उन्होंने उसकी बड़ी खोज कराई; किन्तु व्यर्थ। अस्तु, उसके अभाव में यह मूर्ति पाकर वे बड़ा आनन्द व्यक्त कर रहे थे।

उधर मुझे जानकारी की चटपटी पड़ी थी; अतः किसी प्रकार उनकी बातों का सिलसिला तोड़ते हुए मैंने पूछा कि वह किसकी सम्पत्ति है।

उत्तर में उन्होंने जो यह कहा कि वह दियरा राज्य की चीज है, तो मैं उछल पड़ा। आश्चर्यमय संयोग तो देखिए—दियराधीश के सगले भाई तथा उस राज्यके प्रबन्धक राय बहादुर कुँअर कौसलेन्द्र-प्रताप साही, जो युक्त प्रान्त के श्रीमानों में बड़े ही योग्य और उदार विचारों के व्यक्ति हैं, दूसरे ही दिन मेरे मेहमान होकर आने वाले थे। मैं हर्ष से मतवाला हो उठा।

• • •

कुँअर साहब से मैंने याचना की और उन्होंने मुक्त हृदय से तुरन्त उसे स्वीकार कर लिया। कविवर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के द्वारा उनसे मेरा परिचय हुआ था, कुँअर साहब के साथ वे भी मेरे अतिथि थे। जिन शब्दों में उन्होंने मेरी इस अपील का समर्थन किया था, तदर्थ मैं सदैव उनका आभारी रहूँगा।

• • •

कुँअर साहब के दियरा लौट जाने पर उनके कथनानुसार मैंने अपने गण ज्वालाप्रसाद को वह मूर्त्ति लाने के लिये उनके पास भेजा और दिन-रात उनके—ज्वाला के—सफल लौटने की प्रार्थना और प्रत्याशा करने लगा; किन्तु चौथे-पाँचवे दिन देखता हूँ कि वे बेरंग वापस आ पहुँचे। हृदय को गहरी ठेस लगी; किसी प्रकार अपने को प्रकृतिस्थ करके मैंने उनसे यह पूछने का साहस बाँधा कि खाली हाथ क्यों लौटे।

उन्होंने—जैसी उनकी आदत है—थोड़े ही में एवं निराशा-पूर्वक बताया कि गाँववाले बिगड़ गये हैं, मूर्त्ति नहीं हटाने देते, तो भी कुँअर साहब उद्योग करेंगे; किन्तु कोई आशा नहीं।

मैं हठात् ये पंक्तियाँ दुहराने लगा—

क़िस्मत को देखिए कि कहाँ टूटी जा कमन्द,
दो चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया।

(३)

किन्तु नहीं—

जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू॥
—गुसाईंजी

इस मूर्त्ति को अपने ठीक ठिकाने पहुँचकर, अपनी अद्वितीयता के कारण कला-भवन की शोभा-श्री को असंख्य गुणित बढ़ाकर कुँअर साहब की कीर्ति को दिगन्तव्यापी एवं चिरस्थायी करना था।

सो, कुँअर साहब को विशेष उद्योग न करना पड़ा, गाँववालों ने ही ऐसी कार्रवाई की कि उनका—कुँअर साहब का—रास्ता साफ़ हो गया।

लौटाने को तो उन लोगों ने कुँअर साहब के आदमियों को खाली हाथ लौटा दिया; किन्तु उनका हृदय धक-धक करने लगा कि मूर्ति पर फिर कोई आफ़त न आवे; अत: एक दिन उसे उन्होंने गायब कर दिया और राज्य के कारकुन पर जाहिर किया कि उसे चोर ले गये। कारकुन ने इत्तला कुँअर साहब के पास भेजी। वे गाँववालों की बदमाशी ताड़ गये। उन्होंने तुरन्त फ़ैज़ाबाद के डिप्टी कमिश्नर को एक पत्र लिखा कि मेरी एक मूर्त्ति देवकाली में रक्खी थी, उसे कुछ दिन पहले मैंने अजबा मँगवाना चाहा था, तब गाँववालों ने बाधा उपस्थित की थी; अब उन्होंने उसे कहीं डाल दिया है, सो आप उन पर चोरी का मुकदमा चलाइये।

दूसरे ही दिन गाँव में लाल-सुड़ासे के दर्शन हुए और षड्यन्त्रकारी दहल उठे। उन्होंने उसे गाँव के तालाब में छिपा रक्खा था। पुलिस से वे कहने लगे कि तालाब में भी उसकी खोज होनी चाहिए, शायद चोर उसे उसीमें फेंक गये हों। इस प्रकार उसका पता देकर उन्होंने छुट्टी पाई और मूर्ति शीघ्रही दूसरा राज-भवन में पहुँच गई।

यथा समय मुझे इसकी सूचना मिली और ज्वालाजी पुन: जाकर उसे ले आये। उसके ऊँचेपन की जो कल्पना मैंने की थी, उससे वह बहुत छोटी निकली—कोई साढ़े तीन फुट की; किन्तु इसके कारण उसकी असाधारणता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। भारतीय मूर्ति-कला का वह एक दिव्यरत्न है। उसकी निर्माण-शैली मथुरा की है और जिस लाल पत्थर की वह बनी है, वह मथुरा के आस-पास ही पाया जाता है; अत: निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि वह मथुरा-मंडल की बनी है—उसका निर्माण-काल विक्रमाब्द से एक शताब्दी पूर्व वा पश्चात् होना चाहिए। वह पूज्य नहीं, अलंकरण मूर्ति है, जो मथुरा में निर्मित होकर धुर्जों के प्रासाद या उद्यान की सजावट के लिए अयोध्या लाई गई होगी। जातकों में इस बात की चर्चा मिलती है कि राज-प्रासादों में ऐसी अलंकरण मूर्तियाँ रक्खी जाती थीं।

मूर्ति के परिपूर्ण मुख-मण्डल पर जो गंभीर प्रसन्नता एवं शान्त-स्मित है, वह अनुपम है। नेत्रों में विमल विकास है। उसके अंग-प्रत्यंग बड़े ही सुडौल और खड़े होने की मुद्रा अत्यन्त सरल, अकृत्रिम एवं निर्विकार है। दाहिने हाथ में एक पात्र है, जिसे भृङ्गार कहते थे। इसमें राजा-रानियों के लिए सुगन्ध-द्रव्य रक्खे जाते थे। बाँयें हाथ पर एक पिटारी है, उसका ढकना कुछ खुला होने के कारण एक ओर को झुका हुआ है। खुले अंश में ही पुष्प-माला का कुछ भाग लहरा रहा है। ऐसी पिटारियों में राज-महिषियों के शृङ्गार-पटार की सामग्री रक्खी जाती थी। आज भी उन पिटारियों की स्मृति उन सुहाग-पिटारियों में बची हुई है, जो सौभाग्यवती स्त्रियाँ संक्रान्तियों पर ब्राह्मणों को दान दिया करती हैं। अस्तु, मूर्ति के हाथों में इन वस्तुओं के होने के कारण, यह प्रसाधिका की मूर्ति है, जिनका काम प्राचीन-काल को रानियों के प्रसाधन; अर्थात्—शृङ्गार की सामग्री लिये हुए, उनकी सेवा में उपस्थित रहना होता था।

मेरे अब तक के कला-संग्रह-सम्बन्धी जीवन की सम्भवत: यह सबसे अनोखी घटना है।

एक जेल से दूसरे जेल में

लेखक—श्रीयुत भाई परमानन्दजी, एम० ए०

दो साल तक काल-कोठरी में बंद रहने के बाद अचानक एक दिन सुपरिन्टेंडेंट-जेल अपना सारा स्टाफ लिये हुए कोठरी के सामने आ मौजूद हुआ। हुक्म दिया—'इस कोठरी का ताला खोलकर इसे बाहर निकाल दो।' मुझे और मेरे उन कुछ साथियों को, जिनकी सज़ा मौत से काला-पानी में तबदील हो गई थी, काल-कोठरीवाले हाते से निकालकर जेल के एक दूसरे हाते की कोठरी में अकेला-अकेला ही बंदकर दिया। इस तबदीली से हमें इतना ज्ञान हो गया, कि हमें अब फाँसी के तख्ते पर चढ़ने की ज़रूरत नहीं रही। ऐसे ही दो-तीन दिन और गुज़र गये। सुबह का वक्त था। जेल का दारोग़ा और सिपाही आये। कोठरी से बुलाकर बाहर ले गये। हाते के बाहर एक फ़ोटोग्राफ़र ने अपना कैमेरा लगाया हुआ था। मैंने जेल का एक कुर्ता और जाँघिया पहना हुआ था। हाथ में हथकड़ी लगी हुई थी। पाँव में वे स्लीपर थे, जो मुक़द्दमे के आरम्भ से ही मैंने पहने हुए थे और जो अब आठ मास के बाद पुराने दिखाई देने लगे थे। फ़ोटोग्राफ़र ने हम सब की जुदा-जुदा तसवीर ले ली और इसके बाद हमें अपनी-अपनी कोठरी में लाकर बंद कर दिया गया।

उसी दिन शाम के वक्त हम सब को बाहर निकाला गया। हम में से हर-एक का वज़न लेकर उसे एक छपे हुए फ़ार्म पर दर्ज़ कर दिया गया। हमें बताया गया, कि अब तैयार हो जाओ; तुम्हें इस जेल से चला जाना होगा। अँधेरा होने तक हम सबके पाँव में मज़बूत बेड़ियाँ लगा दी गईं और हमें बाहर जाने के लिए दूसरी प्रकार का कुर्ता और धोती भी दे दी गई। बिस्तरे के लिए दो-दो कंबल भी दे दिये गये। ख़ासा अँधेरा हो जाने पर हम को जेल से बाहर निकाला गया। फाटक से बाहर एक बड़ी लंबी-चौड़ी, घोड़ों से खींची जानेवाली, एक गाड़ी खड़ी थी। गाड़ी के चारों तरफ़ लोहे की सलाखें थीं। एक दरवाज़ा खोलकर हम पंद्रह निर्वासितों को उसमें भर दिया गया। रात के अँधेरे में ही बहुत देर इधर-उधर फिराने के बाद हमें स्टेशन के नज़दीक ले जाया गया। स्टेशन से कुछ फ़ासिले पर एक रेल गाड़ी खड़ी थी। पास लेकर उस गाड़ी में बंद कर दिया गया और पुलिस का पहरा गाड़ी के अंदर और बाहर मज़बूत कर दिया गया। यह अकेली गाड़ी स्टेशन से इतनी दूर खड़ी थी, कि हमें यह पता न लग सकता था कि लाहौर के नज़दीक कौन-से स्टेशन पर हमें लाया गया है।

दूसरे दिन सुबह हुई। हमने देखा, कि पंजाब की सीमाओं से गुज़रकर हम यू० पी० के अन्दर दाख़िल हो गये हैं, और हम पर पंजाब की पुलिस के बजाय यू० पी० की पुलिस निगरानी कर रही है। उस समय हम सब ने आठ-दस माह के बाद बाहर की दुनिया देखी। जिस स्टेशन

से हमारी गाड़ी गुज़रती, मुसाफ़िर हमें एक अजूबा-सा समझकर गाड़ी के पास खड़े हो जाते। इस पर पुलिस के सिपाहियों को कई बार बड़ी सख्ती के साथ लोगों को परे हटाना पड़ता था ; परन्तु हम ने इतना अनुभव ज़रूर कर लिया, कि पंजाब-पुलिस की अपेक्षा संयुक्तप्रान्त की पुलिस का हमारे साथ बर्ताव बहुत नरम था। संयुक्तप्रांत की पुलिस हमें इतना भयावह न समझती, जितनी पंजाब की। बिहार की सीमामें प्रवेश करने पर हमारा चार्ज बिहारी-पुलिस ने ले लिया। यद्यपि उनको सूचित किया गया कि हम बड़े ख़तरनाक क़ैदी हैं, तो भी उनका व्यवहार यू० पी० पुलिस की निस्बत ज़्यादा नरम था। बिहार से भी आगे जब हम हबड़ा स्टेशन पर पहुँचे, तो गाड़ी से उतरने पर, चाहे हमारे पाँव में बेड़ियाँ थी, किन्तु हम अपने आप को अन्य यात्रियों के समान ही समझने लगे। कलकत्ता की पुलिसवाले बहुत बेपरवाह थे। वे केराये की चार गाड़ियाँ ले आये। हम में से चार-चार को एक गाड़ी में बैठा दिया और एक या दो-दो सिपाही गाड़ी के ऊपर बैठ गये। इन गाड़ियों के अन्दर इतना फ़ासिला हो जाता था कि हमसे कइयों के मन में यह ख़याल आया, कि अगर उनके पाँव में बेड़ियाँ न हों, तो वे आसानी से भाग कर राह चलने वाले दूसरे मुसाफिरों के अन्दर मिल सकते हैं। कलकत्ता में हम ऐसा समझते थे, कि हमारी निगरानी का किसी को ध्यान ही नहीं है।

ख़ैर, लगभग दो घंटे के बाद अलीपुर जेल में पहुँचे। जेल वालों ने पुलिस से हमारा चार्ज ले लिया और हमें अलीपुर-जेल के अन्दर एक ख़ास हाते की कोठरी में बन्द कर दिया गया, जहाँ पर बंगाल के राजनैतिक क़ैदी रक्खे जाया करते थे।

स्वागत

दिनेश,

अपने छोटे से, तृष्णा के पीछे दौड़नेवाले, आँधियाले, विश्व में हम तुम्हारा स्वागत करते हैं।

तुम अपनी लाल-लाल किरणों से हमारे अन्धकार में फैले हुए लम्बे जाल को नष्ट कर दो।

कोमल पखड़ियों की गोद में सोए हुए ओस के कणों को तुम्हें चूँस लेना पड़ेगा, इसकी चिन्ता न करो।

परिवर्त्तन का ताण्डव होने दो।

तुम्हारे सफेद और काले अश्व-दलों की ठोकर के नीचे जो पिस सकें, उन्हें पिस जाने दो।

तुम चमको।

नभमण्डल के बीच से अपनी प्रखर किरणों की वर्षा करो।

शरद की दूध भरी प्याली में अपने स्वप्नों को डुबो चाँदनी का जो तारतम्य रचाया था, वह जागृति के इस निष्ठुर आवाहन की भेंट!

शान्तिप्रसाद वर्मा

क़रीब दो सप्ताह हमें इस जेल में ठहरना पड़ा। पंजाब के जेलों की निस्बत यहाँ कहीं ज़्यादा आराम था। बजाय कच्ची कोठरियों के पक्की कोठरियाँ थीं। उनके फ़र्श सीमेंट से पक्के किये गये थे। इस जेल में दूसरे क़ैदियों का, जो हमारे लिये पानी और खाने का प्रबन्ध किया करते थे, हमारे साथ बहुत अच्छा व्यवहार था। भारत के बाक़ी जेलों में से भी क़ैदी लाकर यहाँ जमा रक्खे जाते थे। हम सब की डाक्टरी परीक्षा की गई। अंडेमन भेजे जानेवाले क़ैदियों की छाती को यहाँ विशेषकर देखा जाता था, कि वह कालापानी का जलवायु सहन करने योग्य हैं या नहीं।

अन्त में एक दिन प्रातः यह मालूम हुआ, कि कालापानी का 'महाराजा' नामक जहाज़ अपने घाट पर आ गया है। एक सौ से अधिक क़ैदियों को जेल से बाहर निकाला गया, और दो-दो की एक लाइन बनाकर उन्हें जहाज़ की तरफ़

रवाना किया गया। हममें से हर-एक का बिस्तर—अर्थात् दो कम्बल—उसके सिर पर था और प्याला हाथ में। इस तरह हम तीन मील चलकर बन्दर पर पहुँचे, और जहाज़ में दाख़िल किये गये।

महाराजा-जहाज़ के ऊपर के हिस्से में कई कैबिन और डैक थे, जहाँ कई यात्री सवार थे इस जहाज़ में ख़ूराक और दूसरा सामान भी अंडेमन को ले जाया जाता है। डैक के नीचे एक और तहख़ाना था, जिसमें बाक़ी के क़ैदी रक्खे गये। इस तहख़ाने के नीचे एक और तहख़ाना था, जिसमें हम पन्द्रह रक्खे गये और इस बात का ख़ास ख़्याल रक्खा गया, कि हम कभी किसी दूसरे क़ैदी से मेल-जोल न रख सकें और न जहाज़ के ऊपर के हिस्से में आकर बाहर की हवा और सूर्य को देख सकें। कलकत्ता से कालापानी तक तीन दिन दो रात का रास्ता है। इन चार-पाँच वक़्तों में अन्य यात्रियों के साथ हमें भी कुछ चने और गुड़ दे दिये जाते थे, जिससे हम अपना पेट भर लेते थे। दिन गुज़र गये। अपने वक़्त पर जहाज़ पोर्ट ब्लेयर पर जा लगा। नौ-दस बजे का समय था। मुझे अन्य यात्रियों का तो ख़्याल नहीं; लेकिन हम पन्द्रह को जहाज़ से जेल तक ले जाने के लिये पुलिस का एक ख़ास दस्ता मौजूद था। जहाज़ से उतरते ही एक घाटी शुरू हो जाती है। एक-डेढ़ फ़र्लांग चढ़ाई चढ़ने के बाद चोटी पर सेलुलर जेल आ जाता है, जो दूर से एक बड़ा भारी क़िला दिखाई देता है। पुलिस हमारे आगे-पीछे और दोनों बाजुओं पर थी। बिस्तर हमारे सिरों पर थे। पाँव की बेड़ियाँ घन-घन कर रही थीं। डेढ़-दो फ़र्लांग चलकर हम जेल के फाटक पर पहुँचे। उस समय फाटक खोल दिया गया और हमें ड्योढ़ी के अन्दर लाकर खड़ा कर दिया गया। एक आयरिश बड़ा मोटा और भद्दी-सी शक्ल का दफ़्तर के बाहर आया। हम से संबोधन करके कहने लगा—'देखो, मुझे रिपोर्ट पहुँची है, तुम बड़े ख़तरनाक शख़्स हो। तुमने बम बनाकर गवर्नमेंट को उखाड़ने की कोशिश की है। पर याद रक्खो कि तुम ऐसी जगह में आ गये हो, जहाँ से तुम्हारी कोई दाद-व-फ़रियाद सुनी नहीं जा सकती। बाहर दुनिया का और ख़ुदा है, 'इस जेल का ख़ुदा मैं हूँ।' यह कहकर उसने अपने एक पठान जमादार को हुक्म दिया—ले जाओ इनको। सुपरिन्टेंडेंट हाती में दूर-दूर कोठरियों में अकेले-अकेले बन्द कर दो। ये साहब मिस्टर बैरी सेलुलर जेल के दारोगा थे, जिनके ज़ुल्म और सख़्तियों का बयान हमारे जेल के जीवन का एक बहुत ही दर्दनाक अध्याय है।

आत्मकथा

सघन निकुंजों की काली छाया में, जहाँ दो-चार मुर्झाए हुए पीले पत्ते अपने शुष्क वृन्तों से चुपचाप चू-पड़ते हैं, मेरा स्वर, कोकिल के हृदय को चीर डालनेवाली करुण कूक में मिलकर, चीख उठता है।

संध्या के क्षीण आलोक में, उस निर्जन मार्ग पर से होकर आगे बढ़ते हुए पथिक, मेरी आहों की प्रतिध्वनि सुनकर, और आगे बढ़ना भूलकर, वहीं खड़े हो जाते हैं।

मेरी सिसकियाँ, हवा की हिलोरों में उड़कर, पत्तों की मर-मर में मिलकर, उस अंधकारमय एकान्त में सोये हुए वृक्षों की डालों में उलझकर, तड़पने लगती हैं।

फिर भी न जाने क्यों, गोधूली की धुमिल बेला में, उस पथ पर ठिठककर खड़े हुए पथिक, मेरी 'आत्मकथा' सुनकर भी नहीं समझ पाते !.....!!

तेजनारायण काक 'क्रान्ति'

मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ

लेखक—श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०

सत्य क्या है, अथवा सब से उत्तम मार्ग कौन-सा है, इसका निश्चय करना बहुत दुस्तर है। संसार में इतने बहुत-से धर्म्म हैं, इससे ही प्रकट होता है कि सत्य का जानना कितना कठिन है।

एक ओर एक बूढ़ा मनुष्य जनेऊ पहने, माथे पर चन्दन लगाये, स्नान करके, कुशासन पर बैठा गायत्री का जाप कर रहा है। दूसरी ओर जूते और कपड़े पहने, गिरजा घर में खड़ा हुआ, एक मनुष्य आँखें मूँदकर ईसामसीह से पापों को दूर करने की प्रार्थना कर रहा है। तीसरी जगह बकरे को मारकर, झटपट हाथ धो, कन्धे पर के सुर्ख अँगोछे से मुंह पोंछ, मुल्ला साहब मसजिद में घुटनों के बल बैठे हुए 'या मुहम्मद रसूल अल्लाह' को श्रद्धापूर्वक पढ़ रहे हैं। इसमें कौन ठीक है?

ऐसा मालूम होता है कि दुनिया में सत्य और झूठ कुछ भी नहीं है, अथवा एक ही बात सच्ची और झूठी दोनों हैं। जिन बातों को बचपन से सत्य और उत्तम कहके बताया जाता है, उन्हें लोग अच्छा समझते हैं, और जिनको झूठ और ख़राब बताया जाता है, उन्हें बुरा समझते हैं। एक आदमी कच्चे माँस को देखकर घृणा के कारण मुँह फेर लेता है, और दूसरा मुँह में पानी भर टकटकी लगाकर उसी को देखता है। क्या यह शिक्षा का प्रभाव नहीं है। इनमें कौन ठीक है?

कुछ विद्वानों ने सत्य और असत्य को जानने के लिये बहुत परिश्रम के बाद कुछ सिद्धान्त रचे हैं; किन्तु यह भी अलग-अलग हैं। एक कहता है कि जो आँख से दिखाई दे, वह अवश्य है; किन्तु दूसरी ओर एक धुरन्धर विद्वानों की मण्डली कहती है, कि जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह भ्रम-मात्र है। हद हो गई! कैसे पता चले कि इनमें कौन ठीक है?

खैर, आगे चलिये। एक आदमी ईश्वर को मानता है, दूसरा इस विचार की हँसी उड़ाता है। यह नहीं है कि देश अथवा काल के कारण यह कठिनाई पड़ती हो। एक ही घर में चार आदमी बिलकुल अलग-अलग ख्याल के मिलेंगे। फिर पता कैसे चले कि इनमें ठीक कौन है?

(२)

बचपन और बड़ी उमर में सब से बड़ा भेद यह होता है कि पहली अवस्था में प्रत्येक बात कहानियों के अनुभव से जाँची जाती है, तथा दूसरी अवस्था में संसार के प्रत्यक्ष और कठिन अनुभव से। बचपन में यह ही समझ में नहीं आता, कि लोग रुपया कमाने को नौकरी क्यों करते हैं। प्रथम तो रुपया चाहिये ही क्यों—क्या राबिन्सन क्रूसो का जीवन सुन्दर जीवन न होगा?—और यदि चाहिये भी, तो यह परिश्रम बिलकुल व्यर्थ है। अभी उस दिन तो दादी से उस गिरे हुए मकान के तहख़ाने में रक्खे मुहरों से भरे सोने के कलसों का हाल सुना ही था। बचपन के सुखों का यह एक बड़ा कारण अवश्य है।

कुछ बड़े होने पर एक डर बढ़ जाता है—सबक़ याद न होने पर मास्टर साहब की घूरनेवाली आँखों का। खेलने के सामने पढ़ना समय नष्ट करना मालूम होता है; किन्तु माता तक इस समय नष्ट करने को कहा करती है। खेलते-खेलते मास्टर साहब के आने का समय निकट होने की याद हाथ रोक देती है। इसके सिवाय और कोई डर नहीं होता है। वीरता का तो कुछ कहना ही नहीं। क्या अब डाकू बिलकुल नष्ट हो गये—एक बार भी माता के सामने उन्हें दंड देने का मौक़ा न मिलेगा? क्या अब नावें डूबती ही नहीं—एक बार भी अकेले ही सब डूबते हुओं को बचाने का अवसर न मिलेगा?

अब एक समय आता है, जब पुराने सुख नये सुखों में धीरे-धीरे बदल जाते हैं। पढ़ने में एक विशेष आनन्द आने लगता है। इसका कारण पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों के विषय नहीं होते; किन्तु दर्ज़े में सब से आगे बैठने या परीक्षाओं में सब से अधिक नम्बर फटकारने का शौक़ होता है। इस समय मन किन्हीं गंभीर बातों को नहीं सोचता। स्कूल जाने, और स्कूल से लौटकर स्कूल के ही काम करने में सब समय लग जाता है। हाँ, कभी-कभी घर के बड़े लोगों को देश की दुर्दशा का वर्णन करते, सुन कुछ समय के लिये दुःख अवश्य होता है। यह भी विचार उठते हैं, कि मैं ही क्यों न देश का उद्धार कर्त्ता होऊँ—असंभव तो तनिक भी नहीं है।

स्कूल से निकलते ही एक नवीन संसार में प्रवेश करना होता है। आरम्भ में यह संसार आशा-पूर्ण देख पड़ता है; किन्तु धीरे-धीरे ज्योंही समय बीतता जाता है। संसार के असली स्वरूप का दर्शन होने लगता है। संसार की कठिन उलझनें व प्रत्यक्ष अनुभव कभी-कभी एक प्रकार की निराशा उत्पन्न कर देते हैं; किन्तु यह शीघ्र ही दूर हो जाती हैं, और फिर मनुष्य तेली के बैल के समान नीचे को सिर डालकर इस चक्र में खुशी-खुशी पड़ने को उद्यत हो जाता है।

यदि एक बार फिर पुरानी दुनिया को देखने की इच्छा होती हो, तो क्षण-भर के लिये आँखें मूँदकर बचपन की याद कीजिये—एक झलक देख पड़ेगी।

(३)

यदि लोग अपने पिछले तथा अगले जन्म के विषय में पूरी तरह जानते होते, अथवा यह ही पूर्ण रूप से निश्चय होता कि ये जन्म होते भी हैं, तो बहुत-सी बुराइयाँ दूर हो जातीं और उन्नति करनेवाली आत्माओं का कार्य्य अत्यन्त सुगम हो जाता। इसमें सन्देह नहीं कि बुराइयाँ भी बढ़ जातीं; किन्तु हानि की अपेक्षा लाभ कदाचित् अधिक होता। ठीक यही बात भावी जीवन के सम्बन्ध में भी है। यदि मनुष्य लड़कपन से ही निश्चय कर सके कि मैं संसार की इस कमी को पूरा करूँगा, तो उस मनुष्य तथा संसार दोनों ही के लिये अति उत्तम हो; परन्तु जब किसी बड़े कार्य्य की पूर्त्ति करना हो तब न? सच पूछिये, तो जो कुछ कार्य्य होता देख पड़ता है, सब पेट के कारण होता है। मज़दूर डलिया नहीं ढोता, न कवि कविता करता—शायद दोनों के हाथ में कुदाली और हल होता, यदि इन कामों से पेट का प्रबन्ध न होता।

कभी-कभी शहर की गलियों में से जाते हुए चित्त बड़ा उदास हो जाता है। जब दृष्टि सैकड़ों दुखित स्त्री-पुरुषों पर पड़ती है, जो भूख लग आने के कारण घसिटते होते हैं। समझ में नहीं आता, कि ये लोग किस प्रकार से अपना तथा संसार का भला कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ थोड़ी-

सी आत्माएँ ऐसी भी अवश्य होती हैं, जो अपना कार्य्य धर्म समझकर करती हैं, न कि रोटी कमाने का द्वार समझकर ; किन्तु इनमें भी बहुत-सी ऐसी निकलेंगी, जिनके पेट भरे जाने का प्रबन्ध है ; इसलिये वे अपना कार्य्य धर्म्म समझकर कर सकती हैं। केवल धर्म समझकर ही कार्य्य करनेवाले इस बड़े संसार में सचमुच उँगली पर गिने जा सकते हैं। फिर सन्देह इसमें भी तो है, कि ये मुट्ठी-भर आदमी क्या सचमुच सर्व्वोत्तम हैं ही।

(४)

दुनिया में लोग कहने और करने की बातें अलग-अलग रखते हैं। कहावत है, हाथी के दाँत खाने के और होते हैं दिखाने के और। सच पूछिये, तो लड़कों के हाथ में संसार के बड़े-बड़े आदमियों की जीवनियें इसलिये नहीं दी जाती हैं, कि वे उनका अनुकरण करें ; किन्तु इसलिये कि उनकी प्रशंसा करना सीख जायँ। स्वामी दयानन्द की जीवनी पढ़कर कोई लड़का आत्मा के संतोष तथा संसार के उपकार के लिये घर से उड़नेकी तैयारी करने लगे, तो अव्वल नम्बर का नालायक़ समझा जायगा ; किन्तु मूलशंकर-जैसा संसार का उद्धार करनेवाला लड़का बिरला ही होगा। स्वामी दयानन्द की जीवनी, आदर्श जीवनी है ! बिचारा लड़का सिर हिला-हिलाकर समझाया जायगा, कि कुछ और भी सीखा कि यही सीखा ; पहले स्वामीजी के और गुण तो सीखे होते ; परन्तु इन सिर हिलानेवाले बड़े-बूढ़े को यह पता नहीं कि दयानन्द बनने से पहले मूलशंकर घर से भागा ही था।

न मालूम इन बिचारे लड़कों को इस दुरंगे झंझट में क्यों डाला जाता है। बचपन से बतलाया जाता है, कि सच बोलना बड़ा ही अच्छा है ; विद्या प्राप्त करने से आत्मा की उन्नति होती है ; संसार में जीवन का उद्देश मोक्ष प्राप्त करना है। ये तो रहीं कहने की बातें। जब करने का मौका होता है, तब दूसरी ही बातें काम आती हैं। 'कहीं ऐसे सच्चे बनने से दुनिया में काम थोड़े ही चलता है ?' 'इस पढ़ाई से क्या लाभ, जो रोटी कमाने के काम न आवे ? 'अरे भाई, रुपये से सब सुख हो सकते हैं।' वाह, क्या निराली दुनिया है !

अगर इस तरह धोखा न दिया जाय, तो कदाचित् बचपन की शुद्ध आत्मा इस पेच में सहसा न पड़े। इन बातों के कहने में भी कुछ झिझक लगती है। मद्धी रोशनी में, अकेले, धीरे-धीरे भले ही ये बड़े-बूढ़े अपने सफेद बालोंवाला तजुर्बा नासमझ लड़के को सौंपने को तय्यार हो जायँ, नहीं तो खुले ख़ज़ाने तो कहना दुनिया की रीति नहीं है। यदि कहीं दुनिया का काम, चलने की विधि और कहना एक ही हो जाता, तो कैसा अच्छा रहता। क्या यह संभव नहीं है कि जैसे अभी इस दुरंगी चाल के बिना काम नहीं चलता, वैसे ही तब एकरंगी चाल के बिना काम न चलता—वही रिवाज हो जाता ; लेकिन लोग कोशिश ही नहीं करते।

सच पूछिये, तो लोगों ने अपने जीवन को एक बड़ा भारी झूठ बना लिया है। ज़रा-ज़रा-सी बातों में लोग दुहरे कोट रखते हैं, जब चाहा, जैसा बदल लिया। एक ओर देश के उद्धार के लिये जीवनदान देने पर व्याख्यान दिया जा रहा है, दूसरी ओर लड़के को डिप्टी कलेक्टरी दिलाने की कोशिश की जा रही है। एक ओर पुस्तकों की बड़ाई की जाती है, दूसरी ओर पुस्तकों में व्यर्थ रुपया नष्ट करने से रोका जाता है। एक ओर गान्धीजी के सादे रहन-सहन को आदर्श

घटनात्रयी

लेखक—श्रीयुत पं० ज्वालादत्त शर्मा

श्री प्रवासीलाल भी बड़े कौतुकी पुरुष हैं, कलाकार हैं, दूर की कौड़ी लाते हैं, ऐसी बात सोचते हैं कि दूसरे देखते ही रह जाते हैं। आत्मकथा की वह बात निकाली है कि कोई इंकार ही नहीं कर सकता। विचित्रता-पूर्ण इस जगत् में पृथ्वी पर लेटनेवाली घास से लेकर बड़े-बड़े नक्षत्री जीवों के जीवन में कोई-न-कोई ऐसी अलौकिक घटना घट ही जाती है कि यदि कोई उसे याद रक्खे, या किसी दूसरे को सुनादे, तो उसमें सुननेवाले को अवश्य विचित्रता मालूम होगी, सम्भव है उससे कोई शिक्षा भी मिल जाय, सम्भव है उससे किसी जटिल तत्त्व की गुत्थी भी खुल जाय, मनोरञ्जन तो अवश्यम्भावी है ही। क्या बात निकाली है, कलाकारी की हद हो गई! प्रकाशन के साथ सम्पादन की योग्यता भी प्रमाणिक कर दी। फिर पत्र ऐसा लिखते हैं कि लिखे ही बनता है, कोई टाल ही नहीं सकता—

तुझसे अगर हम भागना चाहें। बन्द हैं चारों खूँट की राहें।

उस समय मेरी कोई ९—१० वर्ष की आयु होगी। मेरे मकान में एक वृद्ध सज्जन रहते थे। उन्होंने कभी पुलीस में नौकरी की थी। सब उन्हें जमादार कहा करते थे। उनकी साध्वी पतिव्रता स्त्री भी थीं। दोनों प्राणी बड़ी शान्ति से रहते थे। जीविका बहुत कम थी; किंतु उसकी शिकायत तो उससे भी बहुत कम थी। मकान का एक छोटा हिस्सा उन्हें रहने के लिए दे दिया था। कुछ किराया नहीं लिया जाता था। महल्ले के कुछ सज्जन उनकी ग़रीबी का ध्यान रखते थे और जो हो सकता था, उनके यहाँ भेजते रहते थे। स्टैम्प का लाइसेंस भी उन्हें एक सज्जन ने कोशिश करके दिलवा दिया था। इसी तरह उनका जीवन आनन्द से कटा जाता था। मुँह खोलकर तो क्या, संकेत से भी उन्होंने कभी किसी से याचना नहीं की। यही उनकी ग़रीबी की शान थी और इसी की बदौलत उन्होंने ग़रीबी बहुत सम्मान और प्रतिष्ठा के साथ काट दी। उनकी स्त्री बहुत ही चतुर थीं। उन्हें सब जमादारनी कहा करते थे। जिस किसी के यहाँ पड़ोस में कोई काम होता, वे जुट जाती थीं। सबको उनका सहारा था। पति की सेवा और घरके काम-काज से जो समय बचता, उसमें वे 'प्रेमसागर' और 'भक्तमाल' पढ़ा करती थीं। पड़ौस की स्त्रियाँ प्रायः नित्य उनकी कथा सुना करती थीं। उनके चरित्र का सब पर प्रभाव पड़ता था। मै भी उनकी कथा में प्रायः जा बैठता था। जिस घर में वे रहती थीं, उसमें ६—७ और किरायेदार भी रहते थे। हमारे घर में से उसमें जाने को एक दर्वाज़ा था। हमारी गायें उधर बँधती थीं और कूप भी उधर ही था; इसलिये जाना-आना दिन में अनेक बार होता था। उन दिनों मैं 'अमरकोश' और 'लघु कौमुदी' याद किया करता था। चलते-फिरते पाठ करने की आदत थी। मुझसे उन्होंने कभी पूछा नहीं; किन्तु एक दिन

उन्होंने मुझे पूरा संज्ञा-प्रकरण सुना दिया और अमरकोश के बहुत-से श्लोक सुना दिये। फिर तो मैं उन्हें 'हितोपदेश' के अच्छे-अच्छे श्लोक सुनाने लगा। उनके अर्थ बड़े चाव से और समझकर सुना करती थीं और सुनते-सुनते याद कर लिया करती थीं। एक दिन मैं उन्हें एक श्लोक सुना रहा था और उसके सुनाने का कारण यह हुआ कि कूप पर एक किरायेदार स्नान कर रहे थे। पत्थर पर काई जम गई थी। उनका पैर फिसल गया और वे गिर पड़े। वहाँ जो स्त्री-पुरुष और बालक स्नान के लिये खड़े थे, सब हँस पड़े। मैं नहीं हँसा, झपटकर उन्हें उठाने लगा, जमादार-नीजी का कोठा कूप के पास था। वे ठाकुरजी की पूजा का प्रबन्ध कर रही थीं—यह भी एक कथा है—उनके पतिदेव कोई एक घण्टा पूजा किया करते थे ; किन्तु उन्हें उसके प्रबन्ध के लिये दो घण्टे लगाने पड़ते थे। बरतन साफ़ करना, चावल धोकर रखना ; फूल, बिल्वपत्र, तुलसीदल और धूप-दीप आदि को सम्हाल-सुधार कर यथा स्थान रखना, लाल-पीला और सफ़ेद चन्दन अलग-अलग घिसकर रखना, कुछ भोग के लिये भी बनाना आदि कामों में उनका बहुत समय लग जाता था और यह सब काम पतिदेव के स्नान से पहले तय्यार हो जाना चाहिये। उसमें ज़रा-सी चूक भी पतिदेव बिना शोर मचाये क्षमा नहीं करते थे। उस समय उन्हें अपना पुलीस का समय याद आ जाता था ; इसलिये बेचारी बहुत डरती थीं और चार बजे प्रातः काल स्नान करके पूजा में लग जाती थीं। सच्ची पूजा तो वही करती थीं, जमादार साहब तो बड़े साहब की तरह Order के नीचे छोटे हस्ताक्षर करके बड़ी तनख़ाह की जगह प्रसाद पाकर मुख़्तार के बिस्तरे पर Stamps बेचने के लिये चले जाते थे। तब वे चूल्हे पर दाल चढ़ाकर और आटा भिगोकर प्रेमसागर का पाठ करने बैठ जाती थीं और नौ बजे रसोई तैयार कर लेती थीं ; क्योंकि जमादार साहब भोजन करके आध घण्टा विश्राम करते थे और मुख़्तार साहब बिस्तरे पर उनसे पहले ग्यारह बजे पहुँचना चाहते थे, इसमें किसी तरह व्यवधान नहीं पड़ना चाहिये था।—तो उस समय वे प्रेमसागर का पाठ कर रही थीं। जब सब लोग नहाकर चले गये तो, उन्होंने मुझसे पूछा—'सब हँसे, तुम क्यों न हँसे ?' घर का मालिक समझकर या मुझसे कभी कुछ पढ़ लिया करती थीं, इस कारण मुझे कभी तू करके न बोलती थीं। मैंने कहा—'मैंने कल ही हितोपदेश में एक श्लोक पढ़ा है, उसमें किसी के गिरने पर हँसने को मना किया है।' उन्होंने पूछा—'वह श्लोक क्या है ?' मैंने कहा—

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥'

एक-एक शब्द का मुझ से अर्थ पूछने लगी। जब प्रमादतः का अर्थ आया, तो हँसकर बोलीं—'ठीक है, भूल से कोई गिरे तो हँसना पाप है, तमाशा करने के लिए कोई जानकर गिरता है, तो हँस सकते हैं।' आज मालूम होता है, उनकी बुद्धि कैसी पैनी थी, उसमें कितनी उच्चकोटि की अर्थ-ग्राहकता थी।

जमादार साहब बीमार पड़े। दिन-दिन उनकी अवस्था बिगड़ने लगी। उनकी सबको चिन्ता थी, हकीम रोज़ आता था, दवा रोज़ आती थी, दूध नित्य पहुँचता था, घर की सब स्त्रियाँ बारी-बारी से उनके पास बैठी रहती थीं, यह क्रम रात को भी बराबर चला करता था।

उस समय मेरी आयु ९-१० वर्ष की थी। कोई ३ बजे रात का समय होगा। एक दुःस्वप्न

(शेषांश २६ वें पृष्ठ के नीचे)

देखकर मेरी आँख खुल गई। मेरी परम पूजनीया नानीजी, जिन्होंने मातृ-वियोग के बाद मेरा बड़े यत्न और लाड़ से पालन किया था, उस समय जाग रही थीं। उन्होंने पूछा—'क्यों उठ बैठा, क्या बात है?' मैंने कहा—'नानी, मैंने बहुत बुरा स्वप्न देखा है, जमादार कोठे से उठकर बाहर आये और चक्कर खाकर गिर पड़े और मर गये'—अभी मेरी बात पूरी ही हुई थी कि दूसरे मकान में से जमादारनी के रोने की आवाज़ आई, हम दोनों भागकर गये, तो देखा—बाहर आँगन में उसी स्वप्न-दृष्ट स्थान पर जमादार साहब मरे पड़े हुए हैं। नानीजी ने अलग बुलाकर मुझसे कहा—यह बात किसी से न कहना कि तूने ऐसा स्वप्न देखा था; नहीं, सब लोग तुझे पूछ-पूछकर दिक़ कर देंगे। उनके जीवन में उनसे आज्ञा लेकर अपने एक मित्र को मैंने यह घटना सुनाई थी। फिर सन् २१ या २२ में दिल्ली के डाक्टर रामनारायणजी को, जिन्होंने स्वप्न पर अँगरेजी में एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा था, स्वर्गीय मेहरजी के स्थान पर यह बात सुनाई थी। इसी तरह की एक और विलक्षण स्वप्न-घटना हुई है, उसे भी यहाँ लिख देना अप्रासंगिक न होगा।

कोई २० वर्ष की बात है। ख़ास होली का दिन था। कोई ४ बजे होलिका-दाह का समय था। मैं महल्ले की होली पर जाने के लिए नीचे उतरा। मेरी एक बड़ी ताई बीमार होकर मकान के दूसरे हिस्से से हमारे रहने के स्थान में आगई थीं। मैंने उनसे पूछा—'ताईजी, मैं होली पर हो आऊँ?' उनके कोई सन्तान न थी, मेरे ऊपर उनका अत्यन्त स्नेह था, बहुत प्रसन्न होकर बोलीं—'हाँ बेटा, पूज आ, फिर घर की होली पूजना।' जब मैं मकान पर वापिस आया, तब उनकी कोठरी बन्द थी। सबने समझा, सो गई हैं। रात-भर जगती रही थीं, मत जगाओ। घर की होली पूजकर सब अपने-अपने काम में लग गये। ८ बजे तक जब कोठरी न खुली और आवाज़ देने पर भी भीतर से जवाब न मिला, तब चिन्ता हुई। कुलावे काटकर दर्वाज़ा खोला, तो मालूम हुआ, उनका देहान्त हो चुका है। खाट पर जैसे कोई सो रहा हो। धुकधुकी बन्द हो जाने से उनकी मृत्यु हो गई थी। कोई दो महीने बाद उनका मकान ख़ाली कर के एक किरायेदार को दे दिया गया। जिस दिन उसमें किरायेदार आया, उसी रात में मुझे स्वप्न में उनका दर्शन हुआ। बहुत प्रसन्न थीं। जैसा उनका स्वभाव था, मेरे ऊपर हाथ फेरकर बोलीं—'तेरी नानी ने मकान किराये पर दे दिया और कुछ देखा नहीं, अब तू इस किरायेदार से मकान खाली करा ले और अमुक-अमुक स्थान को खोदना, वहाँ इतने रुपये निकलेंगे, कोठे के दर्वाज़े की दीवार में (स्वप्न में उस स्थान पर हाथ रखकर) इस जगह खोदना, उसमें सोने की तीन चीज़ें हैं। वह मेरी बहू को पहनाना। मैंने उस (मेरी स्त्री) के लिये रक्खी थी, उसे दे न सकी, भूलना नहीं, किसी दूसरे ने खोद लिया, तो मेरी इच्छा पूरी न होगी।' प्रातःकाल होने पर मैंने अपनी नानीजी से स्वप्न का हाल कहा। उन्होंने कहा—'कल ही किरायेदार आया है। आज उससे मकान खाली करने को किस तरह कहें।' अन्त में यह निश्चय हुआ कि मकान ख़ाली न कराया जाय और उन स्थानों को खोदकर देख लिया जाय। ऐसाही किया गया। जिस-जिस स्थान पर जो-जो चीज़ें बताई थीं, सब निकलीं, उसके बाद आज तक कभी उनके स्वप्न में दर्शन नहीं हुए।

अब ४ बज चुके हैं। ५ बजे भारत-भुवन के २९ नं० के कमरे पर पहुँच जाना है,

नहीं तो फिर शिकायत हो जायगी। विलम्ब हो गया; इसलिए एक घटना का हाल और लिखकर प्रवासीलालजी से क्षमा माँगूँगा।

मेरे एक बहन थीं। नाम था सरस्वतीजी। मुझ पर बहुत स्नेह था। जब वह अपने पति के स्थान को जाने लगती थीं, मुझे दुःख होता था। कोई ३० वर्ष की बात है। दिन के १० बजे की गाड़ी से उन्हें अपने पति के साथ अमरोहा जाना था। उन्होंने मुझसे कहा—'बाज़ार से एक रुपया भुना ला।' इक्का आ चुका था, मैं दौड़ा-दौड़ा बाज़ार गया और एक दूकानदार से, जिसके यहाँ से हमारे यहाँ रोज़ पान आते थे १) भुनाया। उसने आठ दोअन्नियाँ मुझे दीं। मैंने एक कागज़ में उन्हें लपेटकर मुट्ठी में दाब लिया और भागकर मकान पर आया। बहन को देने के लिए जब मुट्ठी खोली, तो उसमें से वह पुड़िया मालूम नहीं रास्ते में कहाँ गिर पड़ी थी। मुझे परेशान देखकर उसने कहा—'जाने दे, अब देखने मत जा, मुझे पहुँचाने स्टेशन चलेगा?' मैं उसके साथ स्टेशन गया। गाड़ी में बैठकर उससे बातचीत करने लगा। रेल चल पड़ी। मैंने उतरना चाहा, उसने हाथ पकड़ लिया। चलती रेल में से उतरने नहीं दिया। अमरोहा पहुँच गया। स्टेशन पर कोई परिचित थे, उनसे कह दिया, मकान पर सूचना दे देना। वहाँ से दूसरी ट्रेन शाम को आती थी, उससे लौटा। किसी काम से बाजार गया, लौटती बार सड़क पर पड़ी किसी चीज़ से ठोकर लगी, ऐसा मालूम हुआ, कि कुछ चीज़ खनकी। मैंने उठाकर देखा, तो वही पुड़िया खुल गई है और उसमे की दोअन्नियाँ बिखर गई हैं। उन्हें उठाकर गिना, तो पूरी आठ थीं! पूरे दस घंटे बाद ऐसी सड़क पर, जहाँ उस समय तक हज़ारों आदमी इधर से उधर आये-गये होंगे, किसी की दृष्टि उस पर न पड़ी और मुझे वहीं ठोकर लगी और वह खोया हुआ द्रव्य मिल गया। मैंने मनमें कहा—कहने-वाले ने ठीक कहा है—'यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्।'

(२२वें पृष्ठ का शेषांश)

बताना, और दूसरी ओर सूट के लिये काशी-सिल्क का देना! अजब दुरंगी दुनिया है!

क्यों नहीं बचपन से बतला दिया जाता, कि तुम्हें रुपया कमाने के लिए पाला व पढ़ाया जा रहा है; जितने ही अधिक रुपया कमाने के योग्य तुम अपने को बना लोगे, उतने ही तुम हमारे आदर के पात्र होओगे। क्यों नहीं बचपन में बतला दिया जाता, कि शिक्षा का उद्देश्य रुपया कमाने की शक्ति प्राप्त करना, तथा दुनिया में आदर के पात्र होना है। क्यों नहीं बचपन से बतला दिया जाता, कि जीवन का उद्देश्य तिजारत करना, इंजीनियरी करना, व डिप्टी कलेक्टरी करना है। बचपन से ही झूठ बोलने के अच्छे-से-अच्छे तरीक़े सिखा दिये जायँ। जिससे फिर बड़ी उमर में लड़कों को दिक्कत न पड़े। सीधे और चुप्पे लड़कों की बुराई तथा चालाक और बातून लड़कों की तारीफ़ करनी चाहिये। बड़ी उमर में यह बातें सीखना ज़रा कठिन हो जाता है। रामचन्द्र, शिवाजी व तिलक के स्थान पर रायबहादुर छोटेलाल, साहू भिखारीमल व आडिट आफ़िस के मशहूर हेडक्लर्क रामसहाय साहब की जीवनी लाखों में छाप-छाप कर लड़कों के हाथों में देनी चाहिये। इन्हीं की नकल तो लड़कों से करानी है।

दुनिया बड़ी झूठी है; इससे सन्तोष नहीं होता।

सत्य संस्मरण

लेखक—श्रीयुत गोपालरामजी गहमरी

बात सन् १८९१ ई० की है। जिन दिनों कालाकांकर से समर-विजयी तत्र भवान् राजा रामपाल-सिंह दैनिक 'हिन्दोस्थान' निकालते थे। आजकल की तरह हिंदी में खँचियों दैनिक-पत्र उन दिनों नहीं निकलते थे। कानपुर का भारतोदय बन्द हो चुका था। हिन्दी का एकलौता 'हिन्दोस्थान' ही राजा साहब के हिन्दी प्रेम का प्रमाण देने के लिये भारत के सुनील नभ-मण्डल में जगमगा रहा था। उसके सम्पादकों में राजा साहब का नाम था। उनके नीचे माननीय देश-पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय का नाम बी० ए० उपाधि-सहित विराजमान था; लेकिन असल में सम्पादन-कार्य हमारे मित्र, गुरियानी जिला रोहतक-निवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त करते थे; क्योंकि राजा साहब को नेशनल कांग्रेस के कामों से अवकाश नहीं मिलता था और श्रद्धेय मालवीयजी वकालत पढ़ते थे। सप्ताह में एक दिन शनिवार को कालाकांकर पधारते थे। रविवार की संध्या को प्रयाग लौट आते थे।

गुप्तजी के साथही कानपुर के सुप्रसिद्ध निर्भीक 'ब्राह्मण' के माननीय सम्पादक, भारतेन्दुजी के समकक्ष कवि और सुलेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री राधारमण चौबे आदि भी थे।

मेरी भी सम्पादकीय विभाग में बुलाहट हुई। जब रात को मैं कालाकांकर पहुँचा, गुप्तजी के यहाँ ही ठहरा।

सबेरे उठकर नित्यकर्मों से निपटकर दन्त-क्षालन कर रहा था। देखा, तो एक शाहसाहब गुप्तजी के चौतरे पर चढ़कर चले आते हैं। बाल बड़े-बड़े, बिखरी लटों की तरह कुछ आगे कुछ पीछे दोनों बगल लहरा रहे हैं। उनकी रगड़ से खद्दर का लम्बा पिंडली तक लटकता हुआ कुरता, कन्धे के पास छाती तक तेल के कीट से मैला हो रहा है। सुन्दर, उज्ज्वल गौर वर्ण मुख-मण्डल पर लम्बी, ऊँची नासिका नस लगे नथनों से सुशोभित है। देशी मामूली जूते पर झूमते हुए मस्त चाल से जब वह मेरे पास पहुँचे, मेरी ओर देखकर मुसकुराते हुए बोले—'तुमहूँ बलमुकुनवा की तरह सबेरे ही लकड़ी चबाया करते हो?'

मैं तो उनका रूप ही देखकर अकचका रहा था। जब उनके श्रीमुख से इतना सुना, तब तो आस्मान से गिरा। भौंचक-सा होकर चुपचाप उनकी ओर ताकता रह गया।

वह भीतर चले गये, जहाँ गुप्तजी दरी पर बैठे 'हिन्दोस्थान' के लिये कापी लिख रहे थे। सामने ही खाट पड़ी थी। उसी पर वह देवता बैठ गये। मैं झटपट दंतुअन कर तौलिये से मुँह पोंछता हुआ भीतर गया।

इस बार उन्होंने बड़े सम्मान से मुझे बुलाकर खाट पर बिठाया और हँसते हुए बोले—'मेरा एक बौड़म कागज़ है। आपके यहाँ भी हर महीने जाया करता है। नाम उसका ब्राह्मण है।' अब तो

मैं उन्हें पहचान गया। और उठकर चरण छूके प्रणाम किया। उन्होंने फिर जबरदस्ती मुझे पास ही बिठा लिया। इधर उधर की बातें होने लगीं। गुप्तजी भी कम्पोजिटर को कापी देकर जब निपटे, तब खूब हाहा-हीही हुई। कोई घंटे भर तक पं० प्रतापनारायण मिश्रजी उपदेश प्रद चुटकुले सुनाते रहे। मेरा उसी दिन पहले पहल उनसे साक्षात हुआ। परिचय तो बहुत पहले से था; लेकिन उनके दर्शन से आप्यायित होने का अवसर उसी दिन आया।

कालाकांकर के बाहर जङ्गल बहुत था। मुझे जङ्गल-बनों में घूमने की सदा से रुचि है। मिश्रजी के साथ परिचय क्या हुआ, मुझे तो पिता-समान साथी मिल गये। जङ्गल में नित्य घूमना और खूब मकोय खाना, उनके साथ बातें करके उपदेश लेना, मेरा रोज़ का काम-सा हो गया। मैं बरसात ही में वहाँ गया था। गङ्गाजी खूब बढ़ी थीं। मिश्रजी का डेरा भी तट से तीस-ही-चालीस लट्ठे पर था। मैं वहाँ जाया करता था, पण्डितजी भी रोज आया करते थे।

एक दिन जब हरतालिका तीज का बिहान हुआ था, कई आदमी गुप्तजी के यहाँ बैठे थे। पण्डितजी भी अपनी मस्तानी चाल से झूमते हुए वहाँ पहुँचे। सबने बड़ी श्रद्धा से उनको आसन दिया। मैंने देखा, तो मिश्रजी की हथेलियों पर खूब बढ़िया ढङ्ग से मेंहदी रचाई गयी है। मैं बराबर अकचकाकर उसी ओर निहार रहा था। जब नहीं रहा गया, तब पूछा—'पण्डितजी! आपने दोनों हाथों में आज मेंहदी क्यों रचाली है। क्या कल तीज आपही ने मनायी है?'

पण्डितजी बोले—'हमारे नव्वाब साहब वाजिदअली शाह मासिक मनाया करते थे। हम तो बच्चा! यह तीज मनाते हैं। यह भी किसी के हुक्म की तामीली में।'

मैंने कहा—'मेरी समझ में नहीं आयी पण्डितजी यह पहेली।'

पण्डितजी ने कहा—'अरे इतना भी समझ में नहीं आया। मेहरिया के मारे यह सब करना पड़ा है; अगर न रचावें, तो वह मारन लगे।'

मुझसे हँसी नहीं थमी। मैं ही नहीं सब लोग खिल-खिलाकर हँस पड़े। मैंने कहा—'आपने भी पण्डितजी कमालकर दिया। यह सब घरऊ बातें कहने की क्या जरूरत है?'

पण्डितजी ने कहा—'बच्चा, यह तो हमारी बार्ता है।'

अब मैं चुप हो रहा। और किसी ने इस पर उनसे कुछ नहीं कहा। मैंने भी सोचा कि अब इस समय नहीं। किसी और अवसर पर इसका निपटेरा करने की मन में उसी दिन से याद बनी रही।

फिर बात भूल गयी थी। एक दिन जङ्गल में मकोय खाते हुए मुझे उस दिन की याद आ गयी। मैंने कहा—'पण्डितजी! आपने उस दिन मेंहदीवाली बात बड़ी भद्दी कह डाली थी। कुछ आप सकुचाये भी नहीं।'

पण्डितजी बोले—'नहीं बच्चा, इस तरह का सङ्कोच तो मैं बिलकुल विदा कर चुका हूँ, मेरा नाम हिन्दी में 'प्रेमदास' है।'

मैंने चुटकीली की पूछा—'और उर्दू में?'

'उर्दू में 'बरहमन' कहकर उन्होंने गम्भीर रूप धारण कर लिया। फिर बड़ी संजीदगी से बोले—

'देखो बच्चा ! मेरे पास एक अनमोल चीज़ है। उसकी बराबरी में दुनिया की कुल दौलत भी नहीं तुल सकती ; लेकिन मैंने उसको बेदाम पाया है, और जो कोई चाहे बेदाम पा सकता है। लेकिन अफ़सोस, कोई लेनेवाला नहीं मिलता।'

मेरे तो होश फाख़्ता होने लगे। बेदाम उसे पण्डितजी ने पाया है और उसकी तुलना में दुनिया भर की दौलत नहीं तुल सकती, फिर जो चाहे सो बेदाम ले भी सकता है, बात क्या है ! जानने के लिये बड़ी अकुलाहट हुई।

पण्डितजी ताड़ गये, बोले—'चकित क्यों होते हो, लोगे, बोलो ? अभी दे सकता हूँ।'

मैंने कहा—'पण्डितजी ! मैं तो बड़े चक्कर में पड़ा हूँ। भला जो ऐसी चीज है, जिसकी तुलना में दुनिया की दौलत नहीं तुल सकती, वह मुझे बेदाम मिले, तो मैं कैसे नहीं लूँगा !'

प०—तो बोलो, दे दूँ न ?

'इतनी नेकी और पूछ-पूछ ?'—मुझ से इतना सुनते ही मान्यवर मिश्रजी बोले—'देखो, लो सम्हालो ! वह है सत्य-भाषण।'

बात मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रही थी ; क्योंकि सत्य-भाषण की मैं मर्य्यादा ही कुछ नहीं जानता था। बिना मतलब रात-दिन झूठ बोलना मेरे लिये कोई पाप नहीं था, न इसके वास्ते किसी मेरे बड़े-बूढ़े ने कभी शासन तक ही किया। मेरे बाप तो, मैं जब छः महीने का था, तभी सर चुके थे। केवल माँ थी, उसने मुझे केवल एक शिक्षा दी थी। जिसकी अब भी बराबर याद बनी है। और भगवान से बिनती यही है, कि माताजी के उस उपदेश पर सदा टिके रहने की सुबुद्धि और सामर्थ्य देवे। उनका वह उपदेश यही था, कि बेटा, कर्ज कभी न करना। कर्ज खाना और पयार तापना एक ही है। भूखे रहकर दिन काट लेना ; लेकिन उधार न खाना।

मैंने पण्डितजी से हाथ जोड़कर निवेदन किया—'मैं नहीं समझता महराज, कि कैसे मैं सत्य-भाषण में समर्थ हो सकूँगा। सदा झूठ बोलकर संसार-निबाह हो रहा है, तब सत्य-भाषण कैसे ले सकता हूँ ?'

मिश्रजी महाराज बड़े उत्साह से बोले—'हाँ इसकी तरकीब भी मैं बतला देता हूँ। पहले तुम इसको सम्हाल लो।'

मैंने फिर विनती की—'सम्हालना क्या है पण्डितजी ! आप तरकीब बतलाइये। इसका कोई चार्ज थोड़े ही लेना पड़ेगा ?'

मेरी इस ढिठाई पर भी वह नाराज नही हुए। मुसकुराते हुए बोले—'तो अच्छी बात है। तुमने ले लिया। अब तरकीब सुन लो बच्चा ! रोज़ तुम बराबर लिखते चलो, कि कब-कब-झूठ बोलते हो। जब मुँह से झूठ निकले, उसी दम लिख लो।'

मैं—बोलते समय याद रहे तब न ?

प०—बोलने से पहले भी याद रहती है, पीछे भी याद रहती है। अब जब इरादा झूठ बोलने का हो, तब उसको रोको, और बिना इरादे झूठ निकल जाय, उसको लिख लो। फिर सबेरे तुम रोज इसका हिसाब देखो या मुझे भी बता दिया करो।

मैं—लेकिन पण्डितजी, बनेगा कैसे झूठ बोलने से बड़े-बड़े काम निकल आते हैं। कितने ही मौक़ों पर इससे बड़ी रक्षा भी हो जाती है। मैं सब इरादे छोड़ दूँ, तो भी मान लीजिये कि मुझसे कोई आदमी कुछ माँगने आया, वह चीज़ मेरे पास है और मैं यही कहकर बच जाता था, कि मेरे पास नहीं है। कभी-कभी तो इस तरह बच जाया करता, कि पहले क्यों नहीं कहा भाई, नहीं तो जरूर दे देता, अब तो लाचारी है।

प०—हाँ, यही मौके झूठ बोलने के होते हैं। आदमी एक झूठ को ढाकने के लिये कई झूठ गढ़कर उसको तोपता है; लेकिन उस मौके पर साफ़ कह दो, कि मैं नहीं दे सकता। इससे वह आदमी नाराज हो जायगा, यह मानी हुई बात है; लेकिन झूठी बात कहोगे, तो वह खुश होकर चला जायगा। तुम उसकी नाराजी से बच रहोगे; लेकिन झूठ कहकर तुमने उसको खुश तो कर दिया और उसका विचार कुछ भी नहीं किया, कि झूठ बोलने से तुम्हारा धर्म कितना नाराज़ हुआ। एक आदमी के खुश करने के लिये तुमने इतना बड़ा पातक किया, जिसके समान संसार में कोई पातक ही नहीं हो सकता। बाबा कबीर का कहना है—

'साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप। जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप?'

गोसाईं जी कहते हैं—

'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिं कि कोटिक गुंजा?'

मैं उनके पैरों पर गिरा और विनती करके बोला—'अच्छा भगवन! यह तरकीब मैं आजही से आरम्भ करता हूँ। जब झूठ बोलूँगा, तब लिख लूँगा। इरादा तो झूठ बोलने का करूँगा नहीं; लेकिन अभी आरम्भ है, देखूँ झूठ के इरादे मुझे कैसे छोड़ते हैं।'

प०—'परमात्मा को याद रखो और आगे बढ़ो, सब पार लग जायगा। चिन्ता की कुछ बात नहीं। तुमने जब इरादा कर लिया, तब पहले के सब इरादे इसके आगे ध्वस्त हो जायँगे।'

पण्डितजी की इस अभयवाणी और सुगम विधि से मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और काम भी बहुत हुआ। मुझे इसके लिये बहुत अपमानित होना पड़ा। बहुत वर्षों के अभ्यास पर मुझे बड़ा आनन्द मिला। सत्य का मित्र कहने की तो मुझमें सामर्थ्य कहाँ; लेकिन झूठ का शत्रु बनने में बड़ा सुखी होता हूँ। किसी पर नालिश करके उसका बैरी बनना अङ्गरेज़ी अदालत में भी बड़ा सुगम होता है।

खरा और बेलाग जवाब देने में मिश्रजी बड़े निर्भीक थे। वह कान्यकुब्ज कुलीन ब्राह्मण थे। उस समाज की कुरीतियों पर वह बराबर अपना झीखना जारी रखते थे। कहते थे—'इस उम्र में भी लड़कीवाले उनका पीछा नहीं छोड़ते। तिलक-दहेज के बोझ से दबकर वह आते और कहते हैं—पण्डितजी एक और ब्याह कबूल करके मेरी कन्या का पाणि-दान ले लीजिये, वह आपके यहाँ सुख से रहेगी।' वह उत्तर देते—'मैं तो एक ही मेहरिया को सन्तोष करने के लिये हाय-तोबा में पड़ा रहता हूँ। तुम अपनी लड़की की जिन्दगी क्यों भारी करना चाहते हो? हाँ, अगर हमारे कहार खिदमतगारों के लिये चाहते हो, तो दे जाओ।'

मिश्रजी की हाजिर-जवाबी मशहूर थी। एक बार उनके मित्र मौलवी साहब पुकारते हुए

आये। पण्डितजी ने पूछा—'क्यों साहब, बहुत चढ़ा गये हैं क्या?' उन्होंने कहा—'क्या कहें पण्डितजी, आज तो आपका एक अवतार खाकर आये हैं हम!'

मिश्रजी बोले—'कहीं बाराह मिल गया था क्या?'

एक बार उनके मित्र-गण की नाटक-मण्डली स्टेज पर शौकिया अभिनय कर रही थी। बाबू राधालाल नाम के एक मसखरे मित्र ने, जो नाटक में मतवाले का पार्ट कर रहे थे, स्टेज पर झूमते हुए गाया—

'कहाँ गयो मेरी नास की पुड़िया, कहाँ गयी मेरी बोतल,
जिसको पीके ऐसे चल हों, जैसे टट्टू कोतल;
चलो दिल्ली चलें, हरे-हरे खेतन की सैर करें।'

मिश्रजी ने इसको अपने ऊपर ताना समझा, वह नास बेऊ भर के लिये रहते थे। उस नाटक में वह मछली बेचनेवाली मल्लाहिन का पार्ट कर रहे थे। बाबू राधालाल के बाद ही माथे पर बोझ सम्हालते हुए मल्लाहिन के रूप में आकर बोले—

'बराम्हन अत्री सभी पियत हैं, बनियाँ अग्गरवाला,
हौं मल्लाहिन पीऊ लई तो, का कोई हँसेगा साला;
चलो दिल्ली चलें, हरे-हरे खेतन की सैर करें।'

श्रद्धेय बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी बड़े निर्भीक सत्यभाषी थे। वह मुँह पर दो टूक कह देते थे; लेकिन उनमें एक यह विशेष गुण था, कि उनसे कोई झूठी बात कहे, तो उसको समझ जाने पर भी उसको लजवाना या किसी तरह की लानत मलामत करना उनको पसन्द नहीं था। चुपचाप परिचय लेकर मौन रह जाते थे। गुप्तजी में एक अद्‌भुत गुण था, कि अपनी बात रखने की हठ कभी नहीं करते थे। अगर छोटे-से-छोटा आदमी भी उनकी गलती बतलाता, तो उसको मान ही नहीं लेते थे; बल्कि उसका कृतज्ञ भी होते थे। उन्होंने बेत शब्द को स्त्री लिंग लिखा था। मैंने कहा वह पुल्लिंग है। वह पहले तो झुँझलाये और कहने लगे—'मैं जिन्दगी भर से बेंतें लग रही हैं' लिखता-बोलता आता हूँ, तुम कैसी बात कह रहे हो।' मैंने कहा—'संभव है; लेकिन है वह स्त्री लिंग।' मैंने प्रमाण और अवतरण दिखलायें, तब चुप ही नहीं हुए, मानकर अपना अभ्यास उन्होंने बदल दिया। मेरे छोटे भाई महावीरप्रसाद ने भी एक बार उनकी गलती बतलायी। वह इतने प्रसन्न हुए, कि उनको बम्बई से बुलाकर अपनी असिस्टेंटी में रखा। वह चापलूसी से बहुत चिढ़ते थे। सनातन-धर्म्म के कट्टर पक्षपाती होने पर भी ऊँची जाति का थोथा अभिमान देखकर बहुत जलते थे। दोष चाहे जिसमें हो, उसके शत्रु हो जाते थे। साहित्याचार्य प० अम्बिकादत्त व्यास, प० प्रभुदयाल चौबे और 'अखबारे आम' के सर्वस्व प० गोपीनाथ शर्मा से उनकी इससे बड़ी अनबन हो गयी थी। मैं उनकी ही देखादेखी अपने नाम के साथ गुप्त लिखने लगा। वह संकोची भी बड़े थे। मुझे वह इसके लिये कहा करते थे, कि गोपालराम ने मेरा 'गुप्त' छीन लिया है; लेकिन संकोची भी इतने थे, कि मुझसे उन्होंने कभी नहीं कहा। अगर कहते, तो मैं तुरत कह देता, कि मैंने अनुकरण किया है। यदि छीन मैं लेता, तो आपके पास नहीं रह जाता।

पण्डितजी की थोड़ी-सी निर्भीकता कहकर इस संस्मरण को मैं आज यहीं समाप्त करता हूँ। किसी और समय गुप्तजी और मिश्रजी की और बातें लिखूँगा। राजा साहब कभी-कभी 'हिन्दोस्थान' के

(शेषांश ३७ वें पृष्ठ के नीचे)

भण्डाफोड़

लेखक—श्रीयुत प० बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०

संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिनकी आदत, हर किसी से, उसके विषय में, कुरेद-कुरेदकर सब तरह की बातें पूछने की होती है। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी, मैं ऐसे लोगों को निर्लिप्त भाव से उसी ढंग के उत्तर, बिना सोचे-समझे, देने लगता हूँ, जिस ढंग के उत्तरों से मैं समझता हूँ कि उनकी मनस्तुष्टि हो जायगी। ऐसा करने से मेरी कुछ हानि नहीं होती है और उनका समय—यदि रेल आदि में यात्रा कर रहे हों तो—कट जाता है। अपने आदर्शों अथवा विचारों को, पात्र-कुपात्र सबके सामने अवसर कु-अवसर का ध्यान न रखकर—प्रकट करके बहस छेड़ बैठना मुझे अच्छा नहीं लगता, इसीलिए जब तक हृदय को चोट पहुँचानेवाली कोई बात न हो, तब तक—अपरिचित जनों के प्रति; अपने सम्बन्ध में, टाल-बताऊ नीति को ही मैं प्रायः बर्तता हूँ। कुछ आदत ही ऐसी पड़ गयी है।

एक बार मैं प्रयाग से, माघ मेला देखकर, आगरे जा रहा था। गणेशशंकरजी को पहले से एक पत्र डाल दिया था कि अमुक ट्रेन से जा रहा हूँ, स्टेशन पर मिलना। फ़तेहपुर पर दो सज्जन उसी डब्बे में आ बैठे, जिसमें मैं अकेला बैठा हुआ था। उनमें से एक लाला मालूम होते थे, दूसरे मुंशी। 'लाला' से मेरा मतलब दूकानदार या महाजन से है और 'मुंशी' से किसी ज़मींदार के कारिंदे, वकील के मोहर्रिर या कचहरीबाज़ से; अर्थात्—जो दूसरों के मुकदमों की पैरवी करते हैं। मुंशी कचहरीबाज़ दरवाज़े में घुसते-घुसते लाला से कुछ बातें करते जाते थे। बैठ जाने पर तो उन्होंने वह ताँता बाँधा, कि जिसका नाम। अथ से लेकर इति तक लाला की सभी बातें पूछ डालीं। दो-तीन स्टेशन आगे लाला उतर गये। मुंशीजी ने उन्हें रेल के दरवाज़े तक पहुँचा दिया और दुआ-सलाम की झड़ी लगा-कर अपनी जगह पर आ बैठे। डयोढ़े दरजे के कारण हमारे डिब्बे में कोई नहीं आता था; इसलिए अब हम दो ही प्राणी रह गये। मुंशीजी अब मेरी ओर झुके। उनका 'बीड़ी पीजियेगा?' ही 'श्री गणेशायनमः' हुआ। मुझे अपने सामने एक दुर्गम पहाड़ दीख पड़ा, जिसकी कुछ चट्टानें ये थीं—

'कहाँ के रहनेवाले हैं? जाति? कितने भाई-बहिन? छोटे? बड़े? बहनें कहाँ ब्याहीं? बहनोई क्या करते हैं? बीबी-बच्चे? शादी क्यों नहीं की? अब क्यों नहीं करते? नौकरी क्यों छोड़ी? अब क्या कीजियेगा?' आदि।

मैंने सोचा कि मुंशीजी मुझे धकेल-धकेलकर एक-एक चट्टान पर चढ़ावेंगे और पहाड़ की सुर्री तक ले पहुँचेंगे। मैं किसी और धुन में था। कौन मग़ज़पच्ची करे, यह सोचकर मैंने निर्लिप्त भाव धारण कर लिया और उनके प्रश्नों के उत्तर देता चला गया; जिससे उन्हें भी पूरा सन्तोष होता चला गया। यह उत्तर काण्ड धुँधला-सा अब भी मेरे हृदय-पटल पर लिखा है। इसका कुछ अंश जो कहीं-कहीं पढ़ लिया जाता है, यह है—

'जाति का बामन हूँ। जी हाँ, कनौजिया। रहने वाला भरतपुर का। नौकरी करता हूँ, स्कूल में। जी हाँ, लड़के पढ़ाता हूँ, प्रयाग में। मिडिल तक स्कूल है। ३०) पाता हूँ। स्त्री है। बच्चे भी हैं। एक लड़का, एक लड़की। एक तीन और एक, एक वर्ष का। जी हाँ, लड़का बड़ा है। एक लड़की और हुई थी, वह मर गयी। महीने डेढ़ महीने की होकर। निमोनिया हुआ था। इसलिए जा रहा हूँ, कि घर से बीमारी की चिट्ठी आयी है। ससुराल मथुरा में है।'—इसी तरह रेल के साथ ही बात-चीत का सिलसिला चलता रहा। बीच-बीच में मुंशीजी ने प्रसंगानुसार कहीं हर्ष, कहीं शोक प्रकट किया। कभी-कभी मैं भी घबड़ाया, कि कहीं कोई ऐसी बात तो नहीं कह रहा हूँ, जो होती न हो। मुंशीजी ने कितने ही विषयों पर बात-चीत की। इतने में एक बड़े-से स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हो गई। देखा, तो कानपुर है, और विद्यार्थीजी सामने ही खड़े हैं। इतनी जल्दी स्टेशन आ गया, इसका आश्चर्य मुझे भी था और मुंशीजी को भी। पर यह हुआ मुंशीजी की ही बदौलत। उन्होंने झटपट अपना बिस्तरा बगल में दबाया और विद्यार्थीजी की ओर संकेत करते हुए बोले—ये आपके दोस्त हैं? मैंने 'जी हाँ' कहते हुए मन-ही-मन भगवान को धन्यवाद दिया, कि मुंशीजी को विद्यार्थीजी का सब हाल, लगे हाथों मुझसे पूछ लेने का अवसर नहीं मिल रहा है। गाड़ी से बाहर निकल कर बोले—'अच्छा पंडितजी, अब चलते हैं; हमारी वजह से आपको तकलीफ़ हुई। भगवान आपके बच्चों को खुश रक्खे। आपके घर में भी, भगवान ने चाहा, तो तबीयत ठीक ही हो गयी होगी। मेरी तरफ़ से बच्चों को प्यार कीजियेगा।' गणेशजी अब आगे चुप न रह सके। मुंशीजी से बोले—'अजी जनाब, किसके बच्चों और बीबी की बातें आप कर रहे हैं?' मुंशीजी ने कहा—'पण्डितजी की।' गणेश-जी ने बड़े जोर से हँसकर कहा—'अजी आप इन्हें जानते भी हैं। इनके न बीबी है, न बच्चे। आपसे किसने कहा?' जब मैंने देखा, कि सब खेल बिगड़ा जाता है, तो मैंने विद्यार्थीजी को नोचा, जिसमें वे चुप रहें; पर वे हँसकर बोले—'नोचते क्यों हो? बेचारे सीधे-सादे आदमी को न-जाने कितनी देर से उल्लू बनाकर अपना मनोरंजन कर रहे हो? मुझे नोचते हो! मुंशीजी, आप इनकी कही हुई सब बातें यहीं छोड़ते जाइए।' गणेशजी की बात सुनकर मुंशीजी ने जिस दृष्टि से मेरी ओर देखा, उसे वर्णनातीत और अनुभवगम्य ही समझिए। उसमें अविश्वास, अश्रद्धा, भर्त्सना आदि का अजीब मेल था। उनके चले जाने के बाद मैंने विद्यार्थीजी से कहा,—'तुमने यह क्या किया?' वे बोले—'चलो रहने भी दो, बेचारे ग़रीब को अपनी बीबी और बच्चों की कथा सुनाते चले आ रहे हो। तुम्हें ऐसे लोग मिल कहाँ से जाते हैं?' मेरे लिए विद्यार्थीजी को यह समझाना कठिन होता, कि मुंशीजी न हिन्दी-प्रेमी थे, न देश-भक्त, न स्वार्थ-त्यागी; बल्कि पुरानी चाल के गृहस्थी-परवर थे, जिनसे यदि मैंने ऐसी बातें न की होतीं, तो उनको अपनी यात्रा बिलकुल नीरस लगी होती।

मेरा साहित्यिक जीवन

लेखक—श्रीयुत डा० धनीराम प्रेम

हिन्दीभाषी जनता मुझे लेखक के रूप में दो वर्षों से जानती है, और सम्पादक के रूप में केवल चार महीनों से ; परन्तु हिन्दी-साहित्य से मेरा सम्बन्ध बहुत पुराना है। उस बात को आज लगभग अठारह वर्ष व्यतीत हो गये। इन अठारह वर्षों में मैंने साहित्य की कुछ अधिक सेवा नहीं की, और जो कुछ की भी है, उसका दर्ज़ा भी ऊँचा नहीं है। परन्तु इन पंक्तियों में मैं उन बातों का विवरण नहीं लिख रहा हूँ ; यहाँ तो मैं केवल उन उतार-चढ़ावों तथा कठिनाइयों का संस्मरण लिखूँगा, जो प्रत्येक नवयुवक लेखक के मार्ग में अनिवार्य रूप से आती हैं और जिनका वर्णन, सम्भव है, अन्य मुझ-जैसे बिलकुल ही नए लेखकों को कुछ लाभ पहुँचा सके।

मुझे अपने माता-पिता का कुछ ध्यान नहीं है। मेरी तीन वर्ष की आयु के पहले ही वे इस लोक को छोड़ चुके थे। माता का स्नेह क्या होता है, यह मैंने कभी नहीं जाना। मुझे भली-भाँति याद है, कि जब मैं हिन्दी की लोअर प्राइमरी कक्षा में पढ़ता था, तब इसी भाव को व्यक्त करते हुए मैंने कुछ दोहे लिखे थे। वे दोहे डिप्टी इन्सपेक्टर महोदय ने बहुत पसंद किये और उनके लिए पाव भर जलेबी उन्होंने पुरस्कार-स्वरूप भेंट भी की। आजकल हिन्दी-साहित्य में जो पुरस्कार की दर है, उसको देखते हुए वह पुरस्कार बहुत था और उससे जो प्रोत्साहन मिला था, उसका तो मूल्य लगाया ही नहीं जा सकता।

हिन्दी की पढ़ाई समाप्त कर के अलीगढ़ के धर्म-समाज हाईस्कूल (अब कॉलेज) में मैंने नाम लिखाया। वहाँ अलीगढ़ के प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों का अड्डा था। धीरे-धीरे उसमें मैंने भी कुछ प्रवेश पा लिया। प० गोकुलचन्द्र शर्मा उन दिनों 'प्रणवीर प्रताप' पुस्तक लिखकर प्रसिद्धि पा चुके थे। कुछ दिनों बाद हम लोगों ने वहाँ 'हिन्दी-साहित्य सभा' तथा 'हिन्दी-पुस्तकालय एवं वाचनालय' की स्थापना की। उन दिनों कविता की ओर मेरी अभिरुचि अधिक थी। परन्तु उस रुचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का कोई समुचित साधन वहाँ नहीं था। फिर भी स्थानीय पत्रों में कभी-कभी कुछ लिखता ही रहा। एक बार वयोवृद्ध कवि प० नाथूराम शङ्कर शर्मा 'शङ्कर' की दृष्टि मेरे एक पद्य पर पड़ गई। उसको पढ़कर 'शङ्कर' जी ने लिखा—

'प्रियवर प्रेम की पद्य पढ़ी। परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। अभी अभ्यास की अधिक आवश्यकता है। आशा है, आगे चलकर प्रेम एक उच्च कवि की पदवी प्राप्त करेंगे।'

हाईस्कूल की छोटी कक्षा में पढ़नेवाले एक विद्यार्थी के लिए ये शब्द कितने उत्साह-वर्द्धक प्रतीत हुए होंगे, इसका अनुमान पाठक सहज ही लगा सकते हैं। इन शब्दों को पढ़कर मेरी रुचि कविता की ओर और भी बढ़ी ; परन्तु इस बार मेरी छन्द-ज्ञान की इच्छा भी बलवती हो गई। मैं

एतदर्थ हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान तथा कवि से मिला ; परन्तु उन्होंने मेरे सारे उत्साह पर पानी फेर दिया। पहली ही बार वह शिक्षा देने लगे—'आप कविता सीखकर क्या करेंगे? इसमें क्या धरा है? विद्यार्थियों को इस झमेले में नहीं पड़ना चाहिए।' बस, मेरे लिए यह काफ़ी था। तभी से कविता की ओर से मेरी रुचि हटती गई और कुछ ही दिनों में मैंने सब कुछ लिखना बंद कर दिया।

उन दिनों गवर्नमेण्ट की ओर से मेरे एक सम्बन्धी मेरे अभिभावक नियत किए गए थे, जो मेरी जायदाद की देख-रेख करते थे। कई कारणों से उनसे मेरी कहा-सुनी हो गई, और फल यह हुआ, कि मुझे उनके विरुद्ध मुक़दमा चलाना पड़ा। मुक़दमा तो चला दिया ; परन्तु उसके कारण जो कठिनाइयाँ मेरे सामने आईं, वे अकथनीय हैं। उस समय मेरी अवस्था केवल १४ वर्ष की थी और इस पृथ्वी पर कोई भी ऐसा व्यक्ति न था, जो एक पैसे से भी सहायता कर सकता, या रहने के लिए दो हाथ स्थान दे सकता। भाग्य के फेर से, अपनी सम्पत्ति होते हुए भी मुझे पथ का भिखारी बनना पड़ा। उस समय मैं 'हिन्दी-पुस्तकालय' के मकान में ही रहता था और एक प्रेस में कुछ देर पते लिखने का काम करके कुछ पैसे नित्य लाता था, जिनसे भोजन तथा स्कूल की फ़ीस का काम चलाता था। यह क्रम लगभग दो वर्षों तक रहा ; परन्तु इन दो वर्षों में मुझे साहित्य-सम्बन्धी कुछ कार्य करने का अपूर्व अवसर मिल गया। 'हिन्दी-पुस्तकालय' में रात-दिन रहने तथा वहाँ का इनचार्ज होने के कारण मुझे अनेक विषयों पर पुस्तकें पढ़ने का सुभीता था। सब से अधिक चाव मुझे उपन्यास, कहानियाँ तथा नाटक पढ़ने का था। यद्यपि हिन्दी की उच्च परीक्षाएँ देने के लिए काव्य की पुस्तकें भी पढ़नी पड़ती थीं। उन्हीं दिनों मैंने प्रेमचन्दजी को पहचाना था—उनकी पुस्तकों-द्वारा। मैंने उनके सभी ग्रन्थ पढ़ डाले थे, कुछ तो कई-कई बार। उन्हीं को पढ़कर मेरे हृदय में दो लालसाएँ पैदा हुईं। एक तो प्रेमचन्दजी के दर्शन करने की, और दूसरी कहानियाँ लिखकर प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपवाने की। भाग्यवश दूसरी लालसा को पूरा करने का साधन भी उन दिनों मुझे मिल गया था। मैं जिस प्रेस में कार्य करता था, उसी से एक पाक्षिक पत्र निकलता था। सम्पादक अलीगढ़ से बहुत दूर रहते थे। अतः कभी-कभी उसका कुछ कार्य मुझे भी देखना पड़ता था। ऐसे ही अवसरों पर कभी-कभी मैं अपना भी कोई लेख दे देता था। इस प्रकार मैंने कुछ कहानियाँ लिखीं और उस पत्र में तथा अन्य स्थानीय पत्रों में छपवाईं।

कुछ दिनों बाद ही असहयोग-आन्दोलन छिड़ गया। मैंने स्कूल छोड़ दिया और ग्रामों में प्रचार-कार्य करने लगा। यह क्रम एक वर्ष तक रहा। असहयोग की गति शिथिल हो जाने पर मुझे फिर से अध्ययन करने की इच्छा हुई। उसी समय मैंने सुना, कि कानपुर का मारवाड़ी-विद्यालय राष्ट्रीय था, और उसके हेड मास्टर थे—श्रीयुत प्रेमचन्दजी। एक साथ ही दो इच्छाओं की पूर्ति। मैंने एक पत्र श्री प्रेमचन्दजी को डरते-डरते लिखा, डरते-डरते इसलिये, कि प्रेमचन्दजी उन दिनों भी बहुत बड़े आदमी थे और मैं था एक साधारण विद्यार्थी। मुझे उत्तर की आशा नहीं थी ; परन्तु मेरे हर्ष का कोई पारावार था, जब मैंने प्रेमचन्दजी के हाथ का लिखा हुआ पत्र पाया। उस पत्र में उन्होंने लिखा था—'प्रियवर, आपने जो कुछ कहानियाँ लिखी हैं, मुझे भेज दो, मैं देखकर सम्मति लिख दूँगा। जो छप चुकी हैं, वे भी देखने को भेज दीजिएगा। यदि आप कानपुर आना चाहते हैं, तब तो यहाँ बातें हुआ ही करेंगी।' प्रेमचन्दजी के हृदय की इस विशालता पर मैं उन दिनों मुग्ध हो गया था, और

आज तक मुग्ध हूँ। उनकी कहानियों के लिए मैं उनका बड़ा आदर करता हूँ; परन्तु उनका सबसे अधिक आदर मैं उनके मधुर और ऊँचे व्यक्तित्व के लिए करता हूँ। मैं तबसे अनेक बड़े लेखकों—देशी तथा विदेशी—से मिला हूँ; परन्तु ऐसे विशाल-हृदय मैंने बहुत कम देखे हैं। अस्तु, वह पत्र मुझे कानपुर खींच ले गया। मारवाड़ी-विद्यालय के दफ़्तर में प्रेमचन्दजी का प्रथम दर्शन हुआ! उक्त विद्यालय में मेट्रिक क्लास न होने से मुझे एक दूसरे विद्यालय में जाना पड़ा; परन्तु प्रेमचन्दजी की ताकीद के अनुसार समय-समय पर उनके दर्शन करता रहा। वह क्रम भी अधिक दिनों तक न रहा। प्रेमचन्दजी कानपुर से बनारस चले गये और मैं चला गया—जेल।

जेल में समय खूब मिला। एक वर्ष था, बिना पढ़े-लिखे कटता कैसे। साधन मिल गये और खूब ही पढ़ा तथा खूब ही लिखा; परन्तु लिखा सब कुछ राजनैतिक। कविता की पुरानी रुचि फिर प्रकट हो गई और कभी-कभी जो चीजें लिखीं, वे पीछे से एक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुईं। परन्तु उनसे भी अच्छी चीज़ थी "तपस्वी मोहन" नाटक। यह नाटक कानपुर में तीन बार खेला गया था; परन्तु पीछे पुलिस ने इसका खेला जाना संयुक्तप्रान्त भर में रोक दिया। मुझे उसके विषय में सबसे पहले मालूम पड़ा, स्वर्गीय अद्धेय गणेशशङ्करजी विद्यार्थी से। फ़तहपुर-जेल था और मध्यरात्रि की घड़ियाँ। अपने मिट्टी के ओटे पर कुछ ही देर सो पाया था, कि किसी ने जगा दिया।

'कौन है?'—मैंने पूछा।

'उठिए, यह देखिए?'—शब्द जेलर का था।

'इस रात में क्या दिखाने आये हैं? क्या बेड़ियाँ पहनाकर कहीं तबादला करना है?'—मैंने द्वार तक आकर पूछा।

'आपके लिए एक साथी लाया हूँ!'—द्वार खोलकर जेलर ने कहा!

'साथी!'—कहकर मैंने उधर देखा!

'हाँ, प्रेम!'—कहकर गणेशजी आगे बढ़े और मेरे गले से लिपट गए।

मैंने उन्हें अनेकबार देखा था; परन्तु उन्होंने मुझे नहीं देखा था। हम लोग कभी आमने-सामने मिले न थे।

'आपने तो मुझे कभी देखा भी नहीं था!'—मैंने कहा।

'मैंने तुम्हारा रूप तुम्हारे नाटक में देख लिया था?'—वे हँसकर बोले।

हम लोग कई दिनों तक साथ-साथ रहे, साथ-साथ खाया, हँसा-रोया। उन्हीं दिनों, उन्हीं की सलाह से, मैंने कविता लिखना छोड़ दिया और केवल नाटक लिखना ही निश्चित किया और वहीं कुछ और नाटक लिखे, जो राजनीतिक होने के कारण आज तक बस्ते में बँधे रखे हैं। हाँ, तब से पद्य लिखने का अवसर नहीं आया। यह मेरे ऊपर गणेशजी की छाप थी, जिसको मैं अब तक नहीं भूला हूँ। मैं अब मानता हूँ, कि हर एक नवयुवक की कवि बन जाने की इच्छा एक अनधिकार चेष्टा है। कविता बड़ी ऊँची चीज़ है, और कवि-सम्मेलन के लिए कुछ तुकों को मिलाकर कवि बनने का कार्य बड़ा उपहासास्पद है। यदि उसी इच्छा को, परिश्रम के साथ, साहित्य के किसी अन्य अङ्ग की पूर्ति में लगाया जाय, तो कहीं अधिक श्रेयस्कर हो।

जेल से बाहर आकर मैंने बम्बई का नेशनल मैडिकल कॉलेज पढ़ने के लिये पसंद किया।

बम्बई-जैसे नगर में कोई हिन्दी-साहित्य-सभा न हो, यह बात मुझे बहुत अखरी। हमारे कॉलेज में संयुक्तप्रान्त के विद्यार्थी केवल तीन थे, कुछ हिन्दी-मध्यदेश के भी थे; परन्तु हिन्दी की ओर सहानुभूति तो सभी की थी। अतः विद्यार्थियों की एक मासिक-पत्रिका में मैंने एक लेख Hindi, the lingua franca of India शीर्षक प्रकाशित कराया। इस लेख के कारण मुझे अनेक मराठी, गुजराती, मदरासी आदि मित्रों की सहायता मिली और हम लोगों ने कॉलेज में एक 'हिन्दी-साहित्य-सभा' की संस्थापना कर ही दी। एक बार इसी सभा की ओर से हम लोगों ने एक नाटक भी खेला। इस नाटक के समय मैंने श्री नाथूरामजी प्रेमी तथा अन्य कई हिन्दी-प्रेमी सज्जनों से जान-पहचान कर ली। कुछ दिनों बाद मुझे एक सूचना मिली, कि बम्बई के हिन्दी-भाषी नागरिक अपनी एक सभा स्थापित करना चाहते हैं। मैं अपने एक मित्र के साथ वहाँ गया; परन्तु वह सभा उस समय स्थापित न हो सकी। उसमें संयुक्तप्रान्तीय घिस-घिस आगई थी। पदों के ऊपर झगड़ा हो रहा था।

बम्बई में रहकर ही मैंने कुछ लेख लिखकर हिन्दी के पत्रों को प्रकाशनार्थ भेजे थे। कुछ उनमें से स्वीकृत हो गये, कुछ अस्वीकृत होकर वापस लौट गये। किसी ओर से भी उस समय मुझे प्रोत्साहन नहीं मिला। मुझे इससे बड़ी निराशा हुई, और मैंने लेख लिखना ही बंद कर दिया।

जब मैं विलायत को रवाना हुआ, तो जहाज़ पर चढ़ते ही मैंने कुछ लेख कई मासिक-पत्रों को भेजे, और मुझे आश्चर्य हुआ, जब कि वे सब स्वीकृत हो गये और दो-तीन महीनों में ही छपकर मेरे पास पहुँच गये। कुछ दिनों में ही मैं अधिक विद्वान नहीं हो गया था। यही नहीं; बल्कि लन्दन पहुँचकर मैंने एक मासिक-पत्र में अपना वह लेख छपा हुआ देखा, जो मैंने पाँच वर्षों पूर्व उस पत्र को भेजा था और जो उस दिन से अप्रकाशित पड़ा हुआ था। इन सब बातों को देखकर यह कहना ठीक है, कि हिन्दी में लेखों का आदर नहीं; बल्कि लेखकों की किन्हीं विशेष योग्यताओं का आदर है। ऐसी दशा में बिलकुल ही नये लेखक स्वयं अपना मार्ग बनावें।

(३१ वें पृष्ठ का शेषांश)

लिये अग्रलेख लिखा दिया करते थे; लेकिन लिखाते समय जो कुछ वह बोल जाते थे, उसको दुहराते नहीं थे। जो लिखनेवाला दोबारा पूछता, उससे बहुत बिगड़ जाते थे। मेरे लिखने की तेजी पर वह इतने प्रसन्न थे, कि जब लिखाना होता, तब मुझे ही बुलाते थे।

एक दिन वह अग्रलेख लिखा रहे थे। मैं बराबर लिखता जा रहा था। एक शब्द जो स्त्री-लिंग था, उसे वह पुल्लिंग कह गये। मैंने स्त्री-लिंग लिख लिया। वह लिखा चुकने पर फिर सुनते थे। जब मैं सुनाने लगा, उस शब्द की यह याद मुझे भूल गयी, कि महाराजा साहब उसे पुल्लिंग बोलते हैं। मैं स्त्री-लिंग ही सुना गया। इस पर वह नाराज हो पड़े। मैंने अपनी भूल कबूल करके उनके कहे मुताबिक शुद्ध करने को कलम उठाया कि मिश्रजी अड़ गये। बोले—'नहीं लड़के ने शुद्ध लिखा है, वह शब्द पुल्लिंग नहीं है।'

अब तो महाराजा साहब अप्रसन्न होकर बोले—'तुम बड़े गुस्ताख़ हो पण्डितजी!'—पण्डितजी बोले—'अगर सच्ची बात का कहना इस दरबार में गुस्ताख़ी माना जाता है, तो मैं सदा गुस्ताख़ हूँ।'

इस पर राजा साहब और उत्तेजित हुए, बोले—'निकल जाओ यहाँ से!'

उसी दम पण्डितजी उठकर चले आये। फिर दरबार में कभी नहीं गये। कालाकांकर छोड़कर उसके दूसरे ही दिन कानपुर अपने घर चले गये।

'सत्यम् ब्रुयात् प्रियम ब्रुयात्। न ब्रुयात् सत्यमप्रियम्' के वह कायल नहीं थे। सदा कहा करते थे—'खुदा दारम चेगम दारम्।'

मैं मौत के मुँह में जाकर लौट आया

लेखक—श्रीयुत ठा० श्रीनाथसिंह

आज स्मृति का संदूक खोलकर मैं अपने छोटे-से जीवन की वह तस्वीर निकाल रहा हूँ, जिसमें मुझे गोली से उड़ा देने की आज्ञा प्राप्त करने के लिये दो सिपाही अफ़सर के सामने लिये जा रहे हैं। यद्यपि मुझे इससे बड़ी-बड़ी मुसीबतों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है; पर तो भी यहाँ पर मैं इसी को लिख रहा हूँ। वह इसलिए कि कलम उठाते समय मुझे यही याद आ गई और मेरे पास इतना समय नहीं है, कि कलम रखकर अन्य बातों को सोचूँ।

सन् १९१७ या १९१८ के आस-पास की बात है। योरप का महायुद्ध जारी था। फौजों में रँगरूटों की भर्ती बड़ी तेज़ी से हो रही थी। अखबारों में जर्मनी की लड़ाई की बड़ी सनसनीदार ख़बरें छप रही थीं। उन दिनों मैं प्रयाग के त्रिवेणी-मन्दिर हाई स्कूल में शायद नवीं या दसवीं कक्षा में पढ़ता था। एक दिन दर्ज़े के साथियों में सलाह हुई, कि फौज में भर्ती होकर दुनिया देखनी चाहिए। मालूम नहीं, इसका मेरे दिल पर क्यों और कैसे इतना असर पड़ा, कि मैं उसी दिन फौज में भर्ती होने के लिये रवाना हो गया।

मेरे दो भाई युद्ध के मैदान के लिये रवाना हो रहे थे। मेरे एक चाचा फ्रांस के एक अस्पताल में गोली की चोट खाकर पड़े हुए थे। मेरे दूसरे चाचा मेसोपोटामिया में दुश्मनों के पंजे में पड़ गये थे। उनकी ख़बर नहीं थी। अख़बारों में उनके और उनके साथियों के सम्बन्ध में कभी छपता, कि तुर्कों ने उन्हें काट डाला, और कभी छपता कि वे जी रहे हैं। मैं इन सबके बारे में विशेष जानने के लिए उत्सुक था। मेरे फौज में भर्ती होने की इच्छा का एक यह भी कारण था; पर मैं इलाहाबाद में भर्ती नहीं हो सकता था; क्योंकि यहाँ भर्ती कराने की ऐजेन्सी भी मेरे एक सम्बन्धी ही ने ली थी। और वे दुनिया के बच्चों को मृत्यु के मुख में भेजते नहीं हिचक सकते थे; पर मुझे न-जाने क्यों, शायद स्नेह-वश, उस ओर बढ़ने में बाधा उपस्थित कर रहे थे।

इसलिए मैं तिकड़म से करीब ५०) प्राप्त करके जबलपुर के लिए रवाना हो गया। मैंने सुना था, कि जबलपुर में भी भर्ती होती है; पर ज्योंही टिकट ख़रीदकर मैं रेल पर सवार हुआ, त्योंही मेरी जेब कट गई। जेब से रुपये भी निकल गये और टिकट भी। अभी गाड़ी नहीं छूटी थी। दिमाग़ ने कहा—उतर पड़ो; पर हृदय ने कहा—नहीं बैठे रहो। मैं यह मानता हूँ, कि आजकल मेरा दिमाग़ हृदय पर हुकूमत कर सकता है; पर उन दिनों हृदय का ही बोल-बाला था। वह मुझको छिन-छिन पर पागल, उन्मत्त और प्रेमी बना रहा था। संयम को वह जानता ही न था, कि किस चिड़िया का नाम है। धन्य है महात्मा गांधी को, जिन्होंने अपनी 'यंग इंडिया' के पृष्ठों के ज़ोर से मेरे हृदय को, उस सन् १९१९ वाले पागल हृदय को एक स्थान पर कैद कर दिया। 'यंग इंडिया' के ये पृष्ठ भारी

चट्टान की परतों के समान मेरे हृदय पर पड़कर उसे दबाये हुए हैं; पर खैर, यहाँ मैं यह न बताऊँगा, कि मैंने अपने आपको इस चट्टान के नीचे क्यों दब जाने दिया। यह दूसरी कहानी है।

हाँ, तो हृदय ने कहा—बैठे रहो। मैं बैठा रहा। रात-भर गाड़ी चलती रही। मुझे नींद न आई। मेरा हृदय अपने सामने कभी पेरिस की सुंदर गलियों का चित्र खींचता, और कभी अरब के रेगिस्तान का। रेलगाड़ी में और भावों की आँधी में मैं एक साथ उड़ा जा रहा था। वह अजीब समय था।

जबलपुर में सवेरा हुआ। खिड़की से बाहर मुँह निकालकर देखा—खोंचेवाले घूम रहे हैं—मिठाइयाँ देखकर मुँह में पानी आ रहा था और पास में पैसे थे नहीं; पर भूख कम थी। इससे विशेष चिन्ता नहीं हुई। यहाँ भी दिमाग़ ने कहा—उतर पड़ो; पर दिल बोला—नहीं, बैठे रहो, यहाँ क्या खाओगे कहाँ जाओगे? और सामने फाटक पर जो काली स्याही का कोट पहने गोरा-सा चेहरा 'टिकट-टिकट' कर रहा है, उसको क्या उत्तर दोगे। मैं बैठा रहा। कोयला-पानी लेकर गाड़ी आगे बढ़ी। मैंने भूगोल में पढ़ रखा था, कि वह गाड़ी बम्बई तक जाती है। अब बम्बई के चित्र दिल में खिंचने लगे। मुसाफिरों से उसकी चर्चा सुनने लगा।

रास्ते में 'टी० टी० आई०' लोग आकर कहते—'टिकट।' मैं उत्तर देता—नो टिकट! इस पर कोई कहता—उतरो, और कोई कहता—खड़े होकर जाओ, पटरी पर दाम देनेवालों को बैठने दो। इस प्रकार उतरता-चढ़ता, अपमानित होता, मैं बम्बई पहुँचा। जब स्टेशन के बाहर निकला, तब जान पड़ा, स्वप्न देख रहा हूँ। इलाहाबाद में उतने सुन्दर शहर की कभी कल्पना भी न की थी।

उस समय मैं तीन दिन का भूखा था। यह समझ में न आता था, कि क्या खाऊँ। अब तक देना ही सीखा था। माँगने की कला न जानता था। किसी से यह कहने की कि कुछ खिला, दो हिम्मत न पड़ती थी; पर मेरे लिए उस परी-देश में देखने और सुनने की इतनी चीज़ें थीं, कि भूख भूली हुई थी। रात को दस बजे तक घूमता रहा। अन्त में भूख और थकावट ने लाचार करके बम्बा-देवी के पास बने हुए तालाब पर एक चबूतरे के सहारे बैठाल दिया। वहीं बैठे-बैठे बम्बई की शोभा देखने लगा। आसमान में तारे चमक रहे थे। आस-पास की ऊँची इमारतों में बिजली की अगणित बत्तियाँ चमक रही थीं। और उन सबकी छाया तालाब के निर्मल जल में पड़ रही थी। यह अपूर्व दृश्य था। इसकी शोभा ने मुझे मस्त कर दिया। इसके बाद कई बार बम्बई गया हूँ और उसी तालाब के किनारे, उसी स्थान पर बैठा हूँ; पर वह मज़ा आज तक नहीं आया।

यह दृश्य देखते-देखते मैं बैठे से कब लेट गया, और सो गया, इसका मुझे ध्यान न रहा। रात को करीब बारह बजे एक पुलिसवाले ने आकर जगाया—'कौन हो जी, उठो यहाँ से। यह सोने की जगह नहीं है?'

'तब कहाँ जाकर मैं सोऊँ।'—मैंने पूछा।

'नालायक, जहाँ तेरा जी करे! उठ भाग यहाँ से।'

इतनी झिड़की मैंने कभी न सुनी थी। मुझे भूख, प्यास, थकावट सब भूल गई। मेरा हृदय समुचित उत्तर देने के लिए मेरे होंठों पर आकर फड़फड़ाने लगा।

मैंने उसी तेजी से उत्तर दिया—'तालायक, जहाँ तेरी इच्छा हो, उठाकर ले चल। मैं अपने आप एक इंच भी न हटूँगा!'

'तालाब में फेंक दूँगा!'

'फेंक दे!'

न-जाने क्या सोचकर उसने मुझे तालाब में नहीं फेंका और मेरी दृढ़ता देखकर वह कुछ मुलायम भी पड़ा। उसने पास आकर पूछा—'तेरा यहाँ कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है?'

'नहीं।'

'तो फौज में भर्ती हो जा।'

मुझे जान पड़ा, मानों मुझे वह रास्ता मिल गया, जिस पर से मैं भटक गया था। मैंने पूछा—भर्ती कहाँ होती है?

उसने उत्तर दिया—क्रापेट-मार्केट में।

इसके बाद वह सिपाही वहाँ से चला गया। मैं बैठा-बैठा फिर फ्रांस और जर्मनी के युद्ध के मैदान की कल्पना करने लगा।

सबेरा होते ही मैं पूछता-पाछता क्रापेट-मार्केट पहुँचा। उस समय मेरे कपड़े बहुत मैले हो रहे थे। मैं मैले-कुचैले आदमियों में बैठा दिया गया। विस्तार करने से वर्णन का मज़ा बिगड़ न जाय; इसलिए यहाँ इतना ही लिखकर आगे बढ़ता हूँ, कि मैं फ़ौज में भर्ती हो गया। दो वर्ष विदेश में, जहाँ सरकार भेजे, वहाँ जाकर रहने का बांड मुझसे लिखा लिया गया। वहाँ से मैं ट्रेनिंग के लिए पूना भेजा गया।

पूना में आने पर मुझे मालूम हुआ, कि मेरी भर्ती लड़नेवाले सिपाहियों में न होकर कुलियों में हुई है और एक अफ़सर ने मुझसे पूछने पर बताया, कि हुक्म पर मुझे सब काम करना पड़ेगा। मेसोपोटामियाँ में जाकर सड़क कूटनी होगी और ज़रूरत पड़ने पर भंगी भी बनना पड़ेगा। मुझे जान पड़ा, मानों मुझे धोखा दिया गया है। अब तो मैं जात-पात नहीं मानता। मेहतरों के साथ मजे में बैठकर खा सकता हूँ; पर तब मैं कट्टर क्षत्रिय था। मुझे अपने वे बाबा याद आये, जिन्होंने रींवा के जंगल में तीन घंटे शेर से पंजा लड़ाया था। मैंने अफ़सर से कहा—मैं क्षत्रिय हूँ। क्षत्रिय का काम लड़ना है। पाखाना उठाना नहीं।

उस अफ़सर ने मुझे कमाण्डर के सामने पेश किया। कमाण्डर ने मेरा 'बांड फार्म' मुझे दिखाकर अंग्रेजी में कहा—'तुमने दो वर्ष नौकरी करने का बांड लिखा है। यहाँ तुम्हारे दस्तख़त मौजूद हैं।'

मैंने उत्तर दिया—'मैंने अन्धा होकर दस्तख़त किया था। मैंने उस कागज़ को पढ़ा न था।'

'अपने फ़ौजी अफ़सर की आज्ञा तुम नहीं मानोगे?'

'नहीं।'

'इसकी सज़ा तुम्हें क्या मिल सकती है, जानते हो? गोली से उड़ा दिये जाओगे।'

मैंने कड़ककर कहा—'मारो, मुझे मरना मंजूर है।'

मालूम नहीं, मुझ में वह साहस कहाँ से आ गया था। कदाचित हृदय में उस वस्तु की अधिक मात्रा होने के कारण, जिसे उपन्यासकार लोग 'वेनिटी' कहते हैं।

कमांडर ने दो सिपाहियों के कड़े पहरे में ब्रिगेडियर-जनरल के पास अपने एक पत्र के साथ मुझे

भिजवाया। उस पत्र में उसने क्या लिखा था, यह मैं आज तक नहीं जान सका; पर मेरे साथ जो दो सिपाही खिड़की गये थे (ब्रिगेडियर-जनरल का कैंप खिड़की में था) वे रास्ते भर यही कहते गये—'तुम खिड़की में पहुँचते ही गोली से मार डाले जाओगे, अब भी अच्छा है, लौट चलो। कमांडर साहब से हाथ जोड़े शायद कोर्ट मार्शल करके छोड़ दे।

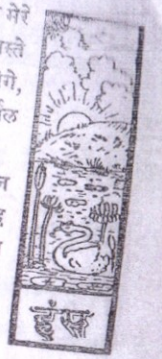

पर उनकी सलाह मेरे हृदय में न धँसती थी। मैं उस समय मरने पर उतारू न था; पर तो भी पीछे कदम न रख सकता था। मुझे कौन साहस दे रहा था? शायद मेरी 'वेनिटी'। मैं सोचता था—मेरे घर के लोग सुनेंगे, कि मैं 'फ़ालवर्ड' में भर्ती हुआ हैं, तो क्या कहेंगे? शर्म के इस पहाड़ को पार करने का मुझमें साहस न था, फिर प्रयाग में मुझसे प्रेम करने वाली एक आत्मा थी। उसकी दृष्टि में मैं 'शेकस्पियर' के 'ऐज यू लाइक इट' का 'आरलैंडो' बनना चाहता था। मुझको इस बात की बड़ी चिन्ता थी, कि वह मेरी इस स्थिति का हाल सुनेगी, तो क्या कहेगी। कल्पना ने उसका चित्र मेरी आँखों के सामने ला खींचा और मुझे जान पड़ा, मानों वह मुझे मौत के मुँह में जाते हुए देखकर, मेरे साहस की तारीफ कर रही है। उसके कल्पित चित्र के सामने भी मैं कायर नहीं बनना चाहता था। मैं आगे बढ़ता गया। उन सिपाहियों को फटकार कर मैंने कहा—'मैं क्षत्रिय हूँ; क्षत्रिय मौत से नहीं डरता।'

खिड़की पहुँचने पर मैं ब्रिगेडियर-जनरल के सामने पेश किया गया। थोड़ी देर तक उसने मुझे गौर से देखा। फिर उसने कमाण्डर की चिट्ठी को पढ़ा। मुझे जो कुछ कहना था, वह मानों मेरी आँखों में लिख गया था। वह मेरे हृदय का सारा भाव समझ गया। वह मुझसे बिना कुछ पूछे अपने कमरे में जाने लगा। एकाएक मेरे मुँह से ज़ोर से निकल गया—'Am I still to be a Prisoner Sir?' (जनाब, क्या मुझे अब भी कैदी ही रहना है।) उसने लौटकर उत्तर दिया—'No, you are free, I admire your courage.' (नहीं, तुम आज़ाद हो, मैं तुम्हारे साहस की तारीफ़ करता हूँ।) इसके बाद उसने सिपाहियों से कहा—'इसकी रस्सी खोल दो।' फ़ौरन मेरी रस्सी खुल गई। साहब अपने कमरे में चला गया। उस समय किसी के आश्चर्य का ठिकाना न था और मुझे ऐसा जान पड़ रहा था, मानों दिल्ली का सिंहासन मुझे बिना लड़े ही मिल गया हो। मेरी खुशी का ठिकाना नहीं था।

थोड़ी देर बाद ब्रिगेडियर की एक चिट्ठी मुझे मिली। वह कमाण्डर के नाम थी। उस चिट्ठी को लेकर हम लोग पूना लौटे। अब वे दोनों सिपाही मुझे बाबू साहब कह रहे थे और उनका खयाल था, कि अँग्रेजी बोलकर मैंने साहब को खुश कर लिया। एक ने कहा—'ओह अंग्रेजी ज़ुबान में बड़ा ज़ोर है।' इसको बोलकर आदमी फाँसी के तख्ते से उतर सकता है। साहब लोग अंग्रेजी बोलनेवाले के सब क़सूर माफ़ कर देते हैं।

फिर रास्ते में उनकी यह जानने की इच्छा हुई, कि चिट्ठी में क्या लिखा है। मैं भी जानना चाहता था। सब की राय से चिट्ठी खोली गई। उसमें लिखा था—'If you deem it expedient I would advise that the man be discharged at once.' 'यदि आप ठीक समझें, तो मैं सलाह दूँगा कि यह आदमी फौरन ख़ारिज कर दिया जाय।'

चिठी को उसी प्रकार बन्द करके हम लोग खुश-खुश पूना पहुँचे। दूसरे दिन मुझे राह-खर्च और इलाहाबाद का पास मिल गया।

विधि का विधान

लेखक—श्रीयुत सन्तरामजी, बी० ए०

'मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना है। वह जैसे चाहता है, वैसे ही मनुष्य नाचता है।' मैं लोगों के मुँह से जब यह बात सुनता था, तो उनकी अकर्मण्यता को कोसे बिना न रहता था। मैं कहता था, भाग्य कायरों का आश्रय है। मनुष्य, अपने दृढ़ संकल्प से जो चाहे, कर सकता है; परन्तु मेरे जीवन की एक घटना ने मेरी इस धारणा को बहुत धक्का पहुँचाया है।

१७ जून १९२४ को मेरी स्त्री का देहान्त हो गया। वे अपने पीछे एक पुत्र और एक पुत्री छोड़ गईं। स्त्री के असमय वियोग से मुझे बहुत दुःख हुआ। घरवालों और मित्रों ने ज़ोर दिया, पुनर्विवाह कर लो; परन्तु पुनर्विवाह का शब्द सुनते ही मेरे हृदय पर भारी आघात होता था। परलोकगत आत्मा से प्रेम, दूसरे लड़के और लड़की का विचार। सोचता था, मुझे तो विषय-वासना की तृप्ति के लिए स्त्री मिल जायगी; पर इनको माँ कहाँ मिलेगी। इनके अतिरिक्त एक और कारण भी था। परलोक-यात्रा से पहले रुग्णावस्था में मेरी स्त्री दूसरी स्त्रियों से कहा करती थी, कि 'मेरे पति को गृहस्थी की बातों का कुछ भी पता नहीं। ये बहुत ही भोले-भाले हैं। मेरे मरने के बाद ये पुनर्विवाह नहीं करेंगे। इसी से, इनके भावी जीवन के दुःखों का अनुमान करके मुझे चिन्ता और शोक हो रहा है।' उनके इन शब्दों का विचार आते ही मैं जगदीश्वरसे प्रार्थना करने लगता,—हे देव! मुझे बल दीजिये, कि मैं अपने को देवी की इस आशा का योग्य पात्र सिद्ध कर सकूँ। इसके लिए दूसरी बातों के अतिरिक्त मैंने १७ जून को उनकी मृत्यु की याद में उपवास करना भी आरम्भ कर दिया।

दिन, महीने, और बरस एक-एक करके बीतने लगे। मेरा शोक भी उतना तीव्र न रहा। इस बीच में विवाह के कई प्रलोभन आये। मैं अब अकेला लाहौर में रहता था। एक साहब आये, और बोले—'मेरी लड़की मैट्रिक पास है। एफ० ए० की तैयारी में आप से सहायता लेना चाहती है। आप के पास आ जाया करेगी। आप पढ़ा दिया करें।' मैंने साफ इन्कार का दिया। एक और महाशय आये। आप कुछ समय ईसाई रह चुके थे। उनकी लड़की कन्या-महाविद्यालय में पढ़ती थी। वे बोले—'मैं वानप्रस्थ हो रहा हूँ। अपनी लड़की को मैं आपके यहाँ छोड़ जाना चाहता हूँ।' मैं उनके आशय को न समझ सका। मैंने कहा—'मैं उसे रखने को तैयार नहीं। मेरी स्थिति दूसरी है। आप चाहें, तो मैं उसे भाई परमानन्दजी के यहाँ रखवा देता हूँ।' तब वे चले गये और फिर न आये। इसके बाद देहरादून से एक अध्यापिकाजी का पत्र आया। मैंने इन्कार लिख भेजा। इस पर भी वे बरजोरी लाहौर आ गईं। बड़ी मुश्किल से उनसे छुटकारा पाया। अब एक और ईसाई देवी आयीं। वह हाल में शुद्ध हुई थीं। मैट्रिक पास और ट्रेंड थीं। एक स्कूल में ८०) मासिक पर हेड मिस्ट्रेस थी। जात-पाँत-तोड़क मंडल का मंत्री होने के कारण, उनके साथ कुछ परिचय हो गया था। बहुत चतुर, सुशील और सौम्य थीं। खेद है, कि इस समय वह इस संसार में नहीं। उन्होंने प्रेम में सने हुए पत्र लिखने शुरू किये। पहले तो मैं उनका कुछ भाव न ताड़ सका। फिर समझ जाने पर मैंने अपनी विवशता प्रकट करते हुए साफ इंकार कर दिया। इसका उन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उनके वैराग्य-पूर्ण कटाक्ष से मुझे ऐसा अनुभव हुआ, मानों वे मुझे शाप दे रही हैं। मेरे परम मित्र श्री० भूमानन्दजी

मेरे हृदय में अपनी परलोकगत भार्या की स्मृति और शब्द मौजूद थे। मैं इन हितैषियों की बात न मान सका।

इसी बीच में एक दिन काँगड़ी-गुरुकुल के स्नातक श्रीयुत रामेश्वरजी से भेंट हुई। उन्होंने शौक के तौर पर कुछ फलित ज्योतिष का अभ्यास कर रक्खा था। मेरे मित्र श्री० दीवानचंदजी की उपस्थिति में उन्होंने मेरा हाथ देखा और कहा, कि आप के दो विवाह होंगे। मैंने कहा—'आपका ज्योतिष झूठा है। मेरा निश्चय दूसरा विवाह करने का नहीं।' उन्होंने कहा—'आपके हाथ की रेखा आपके दो ही विवाह बताती है।' अस्तु, बात गई बीती। मैं अपने पुत्र और पुत्री के पालन-पोषण में लग गया। मैं उनको भी सन् १९२७ में अपने पास लाहौर ले आया। मैं सोचता था, कि लड़का बड़ा हो जायगा, तो लड़की के उत्तरदायित्व से मुक्त होकर मैं विरक्त हो जाऊँगा। जीवन का कार्य-क्रम ही मैं ऐसा बना रहा था, कि २ ज्येष्ठ १९८५ तदनुसार १४ मई १९२८ को १५ वर्षीय पुत्र का न्यूमोनिया से अचानक देहान्त हो गया। कहना न होगा, कि प्रियपुत्र के इस अकाल वियोग से मेरे शोक और दुःख का पारावार न रहा। मेरा शरीर मरने लगा। जी चाहता था, कि अभी मृत्यु हो जाय, तो इस दारुण दुःख से छूट जाऊँ। मैंने माता-पिता और पत्नी का वियोग देखा था; परन्तु जितना दुःख आत्मज के अनन्त वियोग से हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। मेरा जीवन बिलकुल अन्धकारमय हो गया। मृत्यु से कुछ घंटे पहले उसने मुझे बुलाकर कहा—'पिताजी, मुझे छाती से लगाकर प्यार कीजिए।' पहले तो मैं समझा, कि योंही चित्त विभ्रम में कह रहा है; पर उसके ज़ोर देने पर मैंने उसे छाती से लगाया। इसके पहले उसने कभी मुझसे ऐसा न कहा था। बहुत लज्जाशील था। मैं न समझ सका, कि वेदव्रत की आत्मा मुझ अभागे से सदा के लिए विदा हो रही है। उसने अपनी छोटी बहन को भी बुलाकर कहा—'गार्गी! वह देख, तेरी माँ खड़ी मुझे बुला रही है।'

इस दुर्घटना के बाद मेरा स्वास्थ्य बिलकुल गिर गया। जीवन में कुछ भी दिलचस्पी न रही। मेरे मित्रों ने आग्रह किया, कि पुनर्विवाह अवश्य करो। इससे तुम्हारा दुःख हलका हो जायगा।

भाई भूमानन्दजी कराची में एक बाल-विधवा महाराष्ट्र देवी के माता-पिता से बातचीत कर रहे थे। मैंने उनसे कहा—'मेरा पीछा छोड़िए। मैं पुनर्विवाह बिलकुल नहीं करना चाहता।' उन्होंने कहा—'इस में जात-पाँत भी टूटती है, विधवा-विवाह भी होता है, और प्रान्त-भेद भी टूटता है। आपके लिए समाज-सुधार में क्रियात्मक सहायता देने का बहुत अच्छा अवसर है।' मैंने कहा—'खेद है, मेरी मानसिक अवस्था ऐसी नहीं। मुझे क्षमा ही किया जाय। मुझे अब सांवारिक सुख-भोग की इच्छा नहीं रही। शेष जीवन ऐसे ही कट जायगा।' भूमानन्दजी जोर देते थे, और मैं इन्कार करता जाता था। इस प्रकार टाल-मटोल में कोई डेढ़ वर्ष बीत गया। मित्रों के आग्रह करने पर भी मैं अपने को विवाह के लिए तैयार न कर सका।

२७ आक्टोबर १९२९ का दिन था। एक बंद चिट्ठी मुझे मिली। सरनामा मराठी अक्षरों में था। उसकी नक़ल मैं नीचे देता हूँ—

नरोडा,

ता० २४-१०-२९

'संतरामजी,

सेवा में नमस्ते!

विवाह की जवाबदारी से पीछे हटनेवाली स्त्री, और लड़ाई में से भागनेवाला सैनिक, दोनों बराबर हैं। आप एक आर्य हृदय पहचान न सके, ऐसा ही मुझे मालूम हो रहा है। क्या एक स्त्री, जिसको अपने जीवन का साथी बना ले या प्राण-विकास की इच्छा रखती हो, और उसने दृढ़ संकल्प किया हो, वह यह खयालात अपने हृदय से निकाल सकती है? संतरामजी, जब आप से पत्र-व्यवहार हो रहा था, तब से मैंने...क्या इस भाव को मैं अपने हृदय से निकाल डालूँ? मैं कुछ समझती नहीं हूँ, कि मैं अब क्या करूँ। आप से तो कुछ पता नहीं लगता, और घर की स्थिति को तो

आप जानते हैं। उनकी मरज़ी है, कि मैं दूसरी जगह विवाह कर लूँ। यह क्या योग्य है? आप सोचें, क्या मैं विषय-लोलुपता के लिए विवाह कर रही हूँ? नहीं। विवाह प्रभु के पंथ में जानेवाले दो आत्माओं का एकीकरण है। विवाह बौद्धिक और नैतिक मित्रता का पाया है। विवाह मनुष्य की अशक्ति-पूर्ण होने के अर्थ में जो क्रिया हो रही है वह नहीं; लेकिन विवाह आध्यात्मिकता का फैलाव करनेवाला प्रकार है। व्यक्ति का व्यक्तित्व खिले और कौटुम्बिक आदर्श चालू रहे, यही विवाह का निमित्त है।

सन्तरामजी, मेरे तो यह विचार हैं, और जीवन का परिवर्तन एकही बार होता है। अब आप मेरे पत्र का उत्तर भेजोगे, कि आप स्वयं आजाओगे? आप जो स्वयं आओगे, तो आपकी बड़ी कृपा होगी। नहीं तो आप की इच्छा। अब मुझे ज्यादा वखत नही है। मैं यह पत्र आपको गुप्त रूप से ही लिख रही हूँ; इसलिए जल्दी समाप्त कर रही हूँ। क्षमा करना जी।

सुन्दर देवी प्रधान

इस पत्र को पढ़कर मेरा मन डाँवाडोल हो गया। उपर्युक्त महाराष्ट्र-देवी का परिवार कराची से अहमदाबाद के निकट नरोडा नामक उपनगर में चला आया था। वहीं से यह उनका पत्र आया था। मित्रवर भूमानन्दजी ने पत्र देखकर कहा—'अब तो तुम्हें ज़रूर चलना चाहिये।' इसके पहले न मैंने और न सुन्दर बाईजी ने ही एक दूसरे को कभी पत्र लिखा था। उनके सम्बन्धियों के साथ ही भूमानन्दजी, मेरे मना करते रहने पर भी, पत्र-व्यवहार करते रहते थे। मैंने कहा—'विवाह की स्वीकृति तो मैं अभी नहीं दे सकता; पर हाँ, जिस देवी के हृदय में मेरे प्रति ऐसा सद्भाव है, एक बार उसके दर्शन ज़रूर करना चाहता हूँ।' बस, मैं और भाई भूमानन्दजी १० दिसम्बर की रात को लाहौर से नरोडा के लिए चल दिये और १२ दिसम्बर को वहाँ पहुँचे। वहाँ जाकर विवाह से तबीयत फिर उचाट हो गई। मैंने भूमानन्दजी से कहा—'मैं जाता हूँ।' उन्होंने कहा—'अच्छा, आपका चित्त नहीं मानता, तो मैं विवश नहीं कर सकता। जाने दीजिए।' उस समय मैं किंकर्तव्य विमूढ़ था। चिन्ता-सागर में डूब रहा था। अहमदाबाद में एक जगह हजामत बनवाने बैठे। मुझे सोचने के लिए समय मिल गया। मैंने भगवान से प्रार्थना की, कि मुझे इस समय प्रकाश दीजिए। फिर एकदम विचार आया, कि जो कुछ हो रहा है, होने दो। यह मेरा निश्चय था, कि मैं विवाह नहीं करूँगा। मैंने सबसे इंकार किये। इस देवी को भी दो वर्ष तक टालता रहा। इस बीच में पुत्र-वियोग का भी दुःख सहना पड़ा। अब इंकार कर दूँगा, तो इस देवी को अपमानित होना पड़ेगा। विधाता का विधान ही ऐसा जान पड़ता है, कि मैं पुनः गृहस्थ बनूँ। तब मैंने बिना कुछ पूछ-ताछ किए १४ दिसम्बर को पुनर्विवाह कर लिया। तब से मेरा यह विश्वास हो गया है, कि मनुष्य विधि के हाथ का एक खिलौना है।

बता तो ?

पगली !
पयोधि के पार जाकर भी तेरी प्यास न बुझी ?
पतिते !
प्रियतम की थाली में खाने पर भी तू भूखी ही रही !
ग्वारिन !
विश्व में जाकर भी तू सन्यासिनी न बनी,
जब कि प्रेमी स्वयं तुझ में बस गया था !!
भिखारिन !
भिक्षा माँगने पर भी तू धनी न बनी !!
वनवाला !
कण्ठ में करुणा, आर्द्रय और हिय में वेदना होने पर भी गीत न गाया ?
बावरी !
कुटिया के द्वार तक गई, फिर भी दर्शन न किये !
भूली हुई !
प्रेमिका बनी, कफ़नी पहनी; परन्तु चरण चूमना न जाना !
पगली !.....बुझी !!

दिनेशनन्दिनी

ईश्वर का अदृष्ट हाथ

लेखक—श्रीयुत गंगाप्रसादजी उपाध्याय, एम. ए.

सन् १९०७ की बात है। मैं गवर्नमेंट हाई स्कूल बिजनौर में थर्ड मास्टर था। ४५) मासिक वेतन मिलता था। ६) बीमा के कट जाते थे। ३९) घर लाता था। घर में थे—मेरी वृद्धा माता, मैं, मेरी स्त्री, दो नन्हें बच्चे, एक भाई और एक साला। ये दोनों शायद आठवीं और सातवीं कक्षाओं में पढ़ते थे। मैंने उसी वर्ष बी. ए. की परीक्षा दी; परन्तु फेल हो गया। पहले दूसरी भाषा फ़ार्सी थी। ट्रेनिंग कॉलेज में अबी पढ़ा करता था; क्योंकि एफ़. ए. में अबी लेकर बैठने का विचार था; परन्तु अन्त में विचार पलट गया और संस्कृत ले ली। परीक्षा के थोड़े ही दिन रह गये थे। संस्कृत में कुछ उद्योग किया और पास हो गया। परन्तु बी. ए. की संस्कृत सरल न थी। प्राइवेट विद्यार्थी को बिजनौर-जैसे स्थान में, जहाँ न कोई कॉलेज, न उच्च श्रेणी के अध्यापकों की सहायता, कठिनता ही कठिनता थी। एक पंडितजी को पढ़ाने के लिये शायद ४) मासिक पर रक्खा हुआ था। यह एक घंटे पढ़ा जाया करते थे।

यह सब मैंने इसलिये लिखा कि ४) मासिक अपनी फीस, छः या सात रुपये दो विद्यार्थियों, की फीस, यह सब देकर केवल २८) मासिक के लगभग बचते थे। पुस्तकों आदि का व्यय ऊपर से था। ट्यूशन का एक वर्ष आश्रय लिया था; परन्तु उस दशा में अपना पढ़ना कठिन क्या असम्भव हो गया। मेरा विचार था, कि दो वर्ष का कोर्स मैं एक ही वर्ष में कर लूँगा; परन्तु न कर सका और फेल हो गया!

जब से ट्यूशन छोड़ी, हर महीने कुछ-न-कुछ ऋण होता गया। दो-चार रुपये बढ़ तो जाते थे कम न हो सकते थे। फिर १९०७ का वर्ष विचित्र ही था। यकायक गेहूँ १५ सेर फी रुपया से घटकर पौने छः सेर फी रुपये तक आ गये। अकस्मात् मेरे घर में दो-तीन प्राणी और भी आ गये। इधर तो अनाज का खर्च बढ़ा, उधर अनाज का मूल्य भी ढाई गुना हो गया। एक मास की घटना मुझे कभी न भूलेगी। ३९) वेतन लेकर मैंने २६) के केवल गेहूँ ख़रीदे। शेष फीस में दे दिये। अन्य चीज़ों के लिये कुछ पास न रहा।

अकाल में भूख भी बढ़ जाती है। मुझे और मेरी स्त्री दोनों को यह प्रतीत होता था, मानों हम बहुत खाने लगे हैं। हम दोनों अकेले में बैठकर सोचते, कि किस प्रकार निर्वाह करें। समझ में कुछ नहीं आता था। कुल दस या ग्यारह आदमी थे। इसलिये पाँच सेर पक्का आटा खर्च हो जाय, तो आश्चर्य ही क्या है? जो दिन में आध सेर भी नहीं खाता, वह आदमी ही क्या? परन्तु उस समय यह भूख बहुत अखरती थी। एक रुपया रोज़ केवल आटे के लिये दे देना, असम्भव-सा जान पड़ता था। और जितनी-जितनी हम अधिक सावधानी करते थे, उतनी ही समस्या कठिन होती जाती थी। मैं अपनी स्त्री से कहता—'देखो, रोटियाँ खराब तो नहीं जातीं।' मेरी स्त्री कहती—'पकाती तो मैं ही हूँ! एक-एक दाने पर निगाह रखती हूँ। करूँ तो क्या करूँ।' वस्तुतः उनका क्या दोष था? दोष तो मेरा था, कि मैं इस प्रकार के प्रश्न करके उनके हृदय को कष्ट दे बैठता था।

हुआ क्या? इधर तो फेल होने की सूचना आई, उधर इष्ट मित्रों का डेढ़ सौ रुपया ऋण हो गया। हे परमात्मन्, यह ऋण कैसे छूटेगा? यदि एक-एक रुपया प्रति मास भी बचा सकते, तो साढ़े

बारह वर्ष में चुक जाता ; परन्तु यहाँ तो सूखी रोटी खाना भी दुस्तर था । घर में गहना नाम को ही होगा। जो कुछ मूल्यवान चीज़ थी, वह १८९६ ई० के अकाल में स्वाहा हो चुकी थी। उस अकाल और इस अकाल में केवल इतना भेद था, कि सन् ९६ के अकाल की चिन्ताओं का सम्बन्ध और मेरी विधवा माता के ऊपर था। मैं तो उस समय अजान-सा था। माता किसी प्रकार गुज़र करती थीं। मुझे तो केवल इतना मालूम है, कि मैं कभी भूखा नहीं रहा। सोने-चाँदी की चीज़ें गिरवी रखकर किसी प्रकार समय बीतता रहा। या यदि भूखी रहती होंगी, तो मेरी माता।

मेरे घर में एक बात तो अवश्य रही। वह यह, कि हमारी ग़रीबी को किसी ने नहीं जाना। बाहर से परदा पड़ा रहा। और दरिद्रता देवी रंगमंच पर अभिनय दिखाने के स्थान में केवल 'एवं, एवम्' ही कान में कह जाया करती थीं। इष्ट मित्र और सम्बन्धी किसी को यह पता नहीं था, कि दरिद्रता देवी की हम पर इस प्रकार कृपा है। १९०७ के अकाल में, तो इनके साथ विशेष प्रकार खेलनेवाले घर में दो ही प्राणी थे। एक मैं और दूसरी मेरी सहधर्मिणी। इस खेल में हम दूसरों को शरीक करना व्यर्थ और अन्याय-युक्त समझते थे। यद्यपि अकाल का प्रभाव सब पर था ; परन्तु चिंता में केवल दो ही निमग्न रहते थे। मेरी अवस्था २६ वर्ष की थी। मेरी धर्मपत्नी की २० वर्ष की। इस अवस्था के दम्पती जब एकान्त में बैठते हैं, तो अधिकतर उसी अवस्था के अनुकूल वार्तालाप होता है ; परन्तु हम दोनों की बात-चीत का विषय ही कुछ और हुआ करता था। हाँ, बाहर अवश्य मुस्कुराते हुए आते थे। अग्नि थी, परन्तु उसे राख से भली भाँति ढक देते थे, जिससे उसकी चिनगारी उड़कर किसी अन्य पुरुष तक न जा सके।

एक दिन मुझे एक उपाय सूझा। कहावत है, कि 'ईश्वर उनकी सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता आप करते हैं।' (God helps those who help themselves.) एक बुज़ुर्ग ने एक बार इस लोकोक्ति का इस प्रकार संशोधन किया था,—'ईश्वर उनकी सहायता करता है, जो अपनी सहायता नहीं कर सकते' (God helps those who can not help themselves.) मुझे इस उक्ति पर पूरा विश्वास है। मैंने सोचा, कि जब मैं कोई उपाय नहीं सोच सकता, तो ईश्वर से तो माँग ही सकता हूँ।

मैंने माँगना प्रारंभ किया। मैं बिजनौर के आर्य्य-समाज-मन्दिर के एक भाग में रहा करता था। सामने एक चबूतरा था। वहाँ नित्य प्रति संध्या किया करता था। अब संध्या में मन विशेषत: लगने लगा। शुष्क मंत्रों में जो भाव पहले सूझते न थे, अब सूझने लगे। ऋण चुकाने की चिंता ने नये भाव उत्पन्न कर दिये। जब मैं बड़े नम्र भाव से ईश्वर से प्रार्थना करता कि 'प्रभो किसी प्रकार इस विपत्ति से बचाओ' तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं एक जीती-जागती सत्ता के सामने गद्-गद् स्वर में भिक्षा माँग रहा हूँ, और वह सत्ता मेरी प्रार्थना को सुन रही है।

मेरी यह प्रार्थना दिन-पर-दिन बढ़ती गई। एक दिन, दो दिन, महीना से अधिक हो गया। उस कष्ट में भी आनन्द था। मुझे विश्वास था, कि ईश्वर किसी प्रकार मेरी सहायता करेंगे। मैं बड़े सरल और सच्चे हृदय से उनके सम्मुख उपस्थित होता था। जो आनन्द उस समय की संध्या में आया, आज तक फिर नहीं आया। शायद उस आनन्द की फिर आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

कई सप्ताह बीत गये। प्रार्थना जारी रही, और उसी भक्ति के साथ ; परन्तु सहायता का कोई मार्ग दृष्टि-पथ में नहीं आया। जो मार्ग दिखाई देते हैं, उनको लोग ईश्वर की ओर से आये हुए नहीं समझते। ईश्वर को मंज़ूर था, कि मेरी आत्मा पर उसकी दया का सिक्का जम जाय। एक दिन एक मौलवी साहब छुट्टी पर थे। मुझे आज्ञा मिली, कि उनके दर्जे को जाकर पढ़ा दूँ। चला गया! एक लड़के की मेज़ पर एक उर्दू व्याकरण देखा, जो अँगरेज़ी के नये ढंग पर लिखा गया था। लेखक थे—नार्मल-स्कूल प्रयाग के एक हेडमास्टर और प्रकाशक—इण्डियन-प्रेस। मैंने पुस्तक उठा ली और पढ़ाने लगा।

तुरन्त ही एक विचार उठा। क्या तुम भी पुस्तकें लिखकर रुपया नहीं कमा सकते। अब तक पत्रों के लेख तो हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में लिखे थे ; परन्तु कलम से पैसे पैदा करने का ख्याल तक न था। फिर सोचा—'मैं एक अज्ञात मनुष्य! मेरी पुस्तक कौन लेगा।' अस्तु, कुछ सोचकर जेब से एक कार्ड निकाला और इण्डियन-प्रेस के मैनेजर को लिखा, कि क्या आप इसी ढंग की पुस्तक हिन्दी में भी छापना स्वीकार करेंगे और लेखक को क्या देंगे!

कार्ड डाक में चला गया, और मैं सर्वथा भूल गया। यह एक असम्बद्ध-सी घटना प्रतीत हुई। मुझे पीछे से यह पता भी न रहा, कि यह भी ऋण चुकाने का कोई उपाय है। बात आई और चली गई। मैं पूर्वकी भाँति ही अपने अदृष्ट पिता से सहायता की याचना करता रहा!

कुछ दिनों पीछे एक पत्र मिला!—'क्या तुमने कभी कोई पुस्तक लिखी है? तुम किस उजरत पर व्याकरण लिख सकते हो।'

मैं इसका क्या उत्तर देता? किताब लिखी हो, तो बताऊँ? उजरत क्या माँगू! सुना था, कि प्रकाशक लोग प्रति पृष्ठ दिया करते हैं। मुझे पता भी न था, कि व्याकरण लिखूँगा, तो कै पृष्ठ होंगे। प्रेस को तो कुछ गोल-मोल उत्तर लिख दिया और व्याकरण लिखने बैठा! प्रार्थना पूर्ववत् जारी थी और बड़ी लगन के साथ! इधर रात-दिन पुस्तक लिखा किया। पंद्रह दिन में पुस्तक समाप्त हुई। सौ-सवा-सौ पृष्ठों की थी। श्री प० पद्मसिंहजी शर्मा उस समय बिजनौर समाज में आया करते थे। मैंने उनको दिखाई। उन्होंने पसन्द की। मैंने पूछा—'पण्डितजी! इसके लिये क्या मिल जायगा?' परन्तु पण्डितजी भी इस विषय में सर्वथा अनभिज्ञ थे। अब एक ही उपाय था। किताब भेज दूँ और उन्हीं से पूछूँ, कि क्या दोगे।

ऐसा ही किया। सोचा, कि जो मिल जाय सो ही सही, कुछ तो ऋण हलका होगा। कभी दिल कहता, कि यदि सर्वथा अस्वीकृत हुई तो? परन्तु इस 'तो' का क्या उत्तर?

एक दिन स्कूल जा रहा था, या शायद टहलने। ठीक याद नहीं। यकायक मन में एक लहर उठी—'यदि मुझे इस पुस्तक के दो सौ रुपये मिल जाते, तो मैं ऋण से छूट जाता।' स्कूल पहुँचा, तो चिट्ठीरसा ने एक लिफ़ाफ़ा दिया, जिसमें लिखा था—'आप की पुस्तक अन्य सब इस ढंग की पुस्तकों की अपेक्षा, जो हमारे पास आई हैं, अच्छी है। हम आपको दो सौ रुपये दे सकते हैं। १००) अभी और १००) छपने के पीछे।'

अब क्या था! बाछें खिल गईं। ईश्वर ने प्रार्थना सुन ली। तुरन्त उत्तर लिखा—'१५०) अभी भेजिये और ५०) पीछे से! इतनी शर्त के साथ स्वीकार है।'

तीसरे दिन बीमा किया हुआ लिफ़ाफ़ा मिला। १५०) के नोट थे, मैंने उस दिन समझा, कि ईश्वर देता है, तो छप्पर फाड़कर।

प्रेम

कलिन्दजा के कूल पर मोहन बाँसुरी बजा रहे थे। हाय! मुझे अकेली छोड़कर!

मैं तो रात से रूठी थी ; पर क्या करती? अंधी-सी होकर पीछे चली!

कुंज में कल कूँज रहा था। मुझे देखते ही वे दौड़ पड़े और चिबुक उठाते हुए बोले—'चलो, रास रचेंगे!'

मैं क्यों चलूँ? बिना अधर-सम्पुट खोले अपना घड़ा लिए इतरा गई!

वे मोहन थे! उनकी सज्जनता पर बल पड़ गए! ग्वाल-बाल सहित कंकरियाँ फैंकीं! मैं झुँझला-कर बैठ गई!! हाय! यह भी कोई शरारत थी!

मेरा घड़ा गिर पड़ा और निर्मल पानी ढलक-ढलककर बहने लगा! मैं चौंकी, जल्दी-जल्दी औंधे घड़े को उठा लिया!! मेरे नयन सजल हो गये; गतिहीन हो उसमें बचे हुए एक चुल्लू-भर पानी को देखती रही!! इस चुल्लू-भर पानी में मेरे मोहन मुसका रहे थे! ये स्मृतियाँ सर्वदा सजीव हैं और वह अंचलि-भर पानी सर्वदा अमर है। हृदय की एक अर्पणाञ्जलि में प्रेम बसा हुआ है!!

दिनेशनन्दिनी

दरिद्र-दर्पण

लेखक—श्रीयुत प्रो० सद्गुरुशरणजी, अवस्थी एम० ए०

मेरी आयु उस समय तीन वर्ष से कम ही होगी। वायु कानों में सहसा प्रवेश करने लगी। नेत्रों के समक्ष वृक्षों की हरियाली और आकाश की निलिमा में अन्तर प्रतीत होने लगा। गीली मिट्टी की सोंधी-सोंधी सुगन्ध ने घ्राणेन्द्रिय को सजग कर दिया। एक धीमे से गिन्नोट के शब्द के बीच-बीच में लोगों की बातचीत, पक्षियों का कलरव, पशुओं का नाम कानों तक पहुँच जाता था। बाह्य परिस्थिति की कठोरता और कोमलता का स्थूल अनुभव चेतनागम्य था। माता का कंकण गड़ रहा था; परन्तु कोमल हाथ अनुकूल था। कुछ गर्मी-सी थी। मैंने पहली बार अपनी माता को पहचाना। उनका मुख पहली बार दिखाई दिया। अपने शरीर का आकार दिखाई देने लगा। पास ही माता का आँचल घसीटते हुए, रोते हुए 'दादा'—बड़े भाई—की भी सुध आ गई। पिताजी कुछ डरावने और कुछ भृकुटिल थे; परन्तु माता बहुत अच्छी थीं। गाड़ीवान का फटा साफा और नग्न कृष्ण शरीर मुझे बहुत दिनों तक स्मरण रहा। हम लोग एक बड़ी बैलगाड़ी पर बैठे थे। गाड़ी छाया में खड़ी थी। दोनों बैल उस बड़े वृक्ष की जड़ में बँधे थे—हाँ बँधे थे। एक बैल के सींग उसकी आँखों में प्रवेश करने का प्रयास कर रहे थे।

हाँ, मैंने यह सब झटपट देखा। मैंने उड़ती हुई हवा का घर्राटा सुना। लहराते हुए वृक्षों का कंप देखा। और बहुत-सी बैलगाड़ियाँ देखीं। खड़े हुए काले-काले, मोटे-मोटे लड़कों को देखा। बस इतना ही स्मरण है। एक झटके से इन्द्रियों में चेतना बह आई थी। उसने अपना काम समाप्त कर, न जाने मुझे फिर कहाँ, किस परिस्थिति में ढकेल दिया। मुझे उसके पूर्व की और उसके पश्चात की स्थिति का तनिक भी स्मरण नहीं है; परन्तु सम्भव है कि बाह्य परिस्थिति का परिज्ञान उसी सूक्ष्म और धूमिल झलक पर अटक कर विकसित हुआ हो। सांसारिक-ज्ञान का यह पहला अनुभव था।

(२)

एक निर्धन विद्यार्थी की आत्म-गाथा ही क्या? कहीं से पुस्तकों की भीख, कहीं से कपड़ों का दान, कहीं से फ़ीस की योजना, इसी प्रकार विद्योपार्जन हुआ। ऐसे जीवन में करुण रस का साम्राज्य स्वाभाविक ही है। प्रातःकाल अध्यापन से वेतन-अर्जन करना, मध्याह्न में कॉलेज जाना और सायं-काल में खेलते हुए एक ट्यूशन निपटाकर ८॥ बजे घर आना, और माता, बहन और भाइयों की आर्त-कथा सुनते-सुनते अभावों की चिंताओं में सो जाना और दूसरे दिन से फिर वही अभिनय आरम्भ कर देना, जीवन को निर्जीव कल की भाँति घुमाये चला जाता था। न साहित्याभिरुचि न अर्थविनाश; परन्तु हाँ, इस जीवन का भी मूल्य था। भगवान की सत्ता में अटल श्रद्धा और उसकी सहायता में निश्चल विश्वास, मुझमें सर्वदा के लिए जाग्रत हो गये। यह स्पष्ट में विरोध-सा मालूम होगा, यदि मैं कहूँ कि मेरा जीवन सफलताओं का केन्द्र था; परन्तु एक निर्धन का भी जीवन सफलता का समाहार हो सकता है। मुझे विफलता का बहुत कम स्मरण है।

परन्तु यह अवश्य है कि मुझे अपनी निजी शक्ति में कोई भरोसा नहीं। जिस काम में मैंने जितना ही अधिक परिश्रम किया, सफलता उतनी ही दूर भागती गई। नये-से-नये आयोजन विफल हुए। जब विकट विफलता के कशाघात ने मुझे तिलमिला दिया और मैं असहाय निराश्रित की भाँति

से, यह मैं स्वयं न समझ सका। दुःखों के थपेड़ों ने मुझे जितनाही अनुभव-संपन्न बना दिया है, उतनाही मुझे आस्तिक भी बना दिया है। मुझे भगवान के अस्तित्व में उतना ही विश्वास है, जितना अपने अस्तित्व में। इसको तर्क के आधार पर मैंने कभी निश्चय नहीं किया; परन्तु, अपने साक्षात अनुभव के बल पर यह विश्वास स्थिर किया है। इसके प्रयोग जीवन में सैकड़ों बार आये हैं और प्रत्येक बार मेरा यही निष्कर्ष रहा है। 'वह' मेरे लिये सजग क्रिया स्वरूप है। वह मेरी भक्ति-भावना का चिरंतन अवलंबन है; परन्तु इसमें यह न समझना चाहिये, कि उसने मेरे संपूर्ण क्रिया, कलाप को आलोकित कर रखा है। वह तो मेरी सहायता तभी करता है, जब मैं शोकातुर होकर उसका सहारा चाहता हूँ।

(३)

दरिद्र-दर्पण ने बहुत-सी आकृतियों के धुँधले चित्र ग्रहण किए; परन्तु दर्पण दरिद्र ही ठहरा। जब ग्राहिका-शक्ति मंद है, तो प्रक्षिपन-शक्ति कैसे तीव्र हो सकती है। टेढ़ी-मेढ़ी, मोटी-पतली रेखाओं से बने हुए आकार आकर्षक नहीं हो सकते।

अच्छा, तो साहित्यिक-क्षेत्र में मुझे कब, कौन, कैसा मालूम पड़ा, इसकी थोड़ी चरचा कर देना अरोचक न होगा। कॉलेज के अध्ययन के समय ही स्वर्गीय गणेशशंकरजी से मेरी भेंट हुई। वह भी स्वार्थ-वश। उनकी चमकीली आखें, उनके रूखे-रूखे खड़े हुए केश, स्थूल चश्मे से हृदय में प्रवेश करनेवाली उनकी दृष्टि, उनकी मुस्कराती हुई मनुहार, तथा सहानुभूति से लिपटी हुई गंभीर मुद्रा मुझे भली प्रकार स्मरण है। वे मेरा हाल बहुत देर तक पूछते रहे और मुझे परामर्श देते रहे। उनका दुबला शरीर बड़ी सुघड़ता के साथ मेज़ के एक कोने पर स्थित था। बात करते-करते उन्होंने मुझसे कहा—'द्विवेदीजी को देखने चलिएगा! वे जुही में रुग्ण पड़े हैं।' हम दोनों चल दिए।

गणेशजी के पैर चप्पलों में होते हुए भी वेग से पड़ रहे थे। उन्हें बड़े-बड़े डग लेने का अच्छा अभ्यास था। जितनी देर हम लोग रहे, गणेशजी निरंतर कुछ-न-कुछ कहते रहे। उनके प्रत्येक कार्य में वेग था। उनके प्रत्येक विचार में प्रौढ़ता और फुरती थी। उनमें निश्चय था, उनमें दृढ़ता थी। उनमें नेतृत्व के सारे गुण थे। साहित्यिक-कार्य उनका गौण था, राजनैतिक प्रधान। इसके बाद मैंने उन्हें बहुत समझा। बहुत काल उनके संपर्क का सौभाग्य रहा; परंतु प्रथम दिवस का चित्र सर्वदा हृदय में बना रहेगा।

पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी रुग्ण-शय्या पर आसीन थे। हम लोगों को देखते ही उठ बैठे। मैंने उनके चरण स्पर्श किये। मेरा परिचय कराया गया। उन्होंने स्वयं मेरे संबंध में इतनी बातें कहीं, जितनी और किसी को न ज्ञात थीं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, कि द्विवेदीजी साहित्य के गहन विषय को ही नहीं पढ़ते, उनकी जानकारी, जो कुछ भी अच्छा-बुरा हिन्दी में छपता है, सबके संबंध में भी है। उनके दुर्बल शरीर में बहुत कम शक्ति थी। उनके नेत्रों में नोकीलापन था और उनको ओर देर तक देखना असंभव था। उनकी मोटी-मोटी भौंहों के लटकते हुए बाल ऊपर के पलकों के लंबे-लंबे बालों को स्पर्श करते थे। कादंबरी में दिये हुए जाबालि ऋषि के चित्र से द्विवेदीजी की आकृति बहुत कुछ मिलती थी। हाँ, न उनके डाढ़ी थी और न केश उतने सफेद थे। कमरा बिलकुल साफ़ था। शिव-नारायणजी वैद्य के साथ मैं तो द्विवेदीजी के लिए पपीते का दूध लेने चला आया; परन्तु गणेशजी वहीं बैठे रहे।

कई वर्षों बाद, मनीराम की बगिया में द्विवेदीजी के फिर दर्शन हुए। उन्होंने अपनी असीम कृपा-द्वारा मुझे कॉलेज में स्थान दिला दिया था। मेरा-उनका पत्र-व्यवहार निरंतर हुआ करता था। इस बार भी द्विवेदीजी रुग्ण होकर ही कानपुर आये थे। उनके मनोविनोद के लिए हम लोग भी उनके पास पहुँच जाया करते थे। उसी समय 'कविकिंकर' वाला लेख वर्तमान रहस्यवादियों के संबंध में निकला था। उस लेख की बड़ी चरचा रहती थी। उनसे वर्तमान कवियों के संबंध में मुझे बात करने

का काफ़ी अवकाश मिला। 'निरालाजी' के संबंध में भी उन्होंने अपनी कथा बतलाई। उनकी बातें ऐसी रुचिकर और ज्ञानवर्धक होती थीं, कि हम लोगों को उनके निकट से हटना बहुत अखरता था।

एक बार उन्होंने एक संस्कृतज्ञ मित्र से पूछा—'आपने कौन-कौन-से साहित्य के ग्रंथ पढ़े हैं?' उन्होंने लगभग सभी ग्रंथों के नाम बतला दिये। द्विवेदीजी ने शिशुपाल और भवभूति के कुछ सुंदर भावों को सुनने की जिज्ञासा प्रकट की। हम लोगों में से किसी को कोई अच्छा श्लोक स्मरण न आया। फिर उन्होंने स्वयं न-जाने कितने सुंदर-सुंदर श्लोक भवभूति, माघ और कालिदास के सुनाये होंगे। उनकी इस आयु में ऐसी स्मरण-शक्ति देखकर हम सब चकित रह गए।

एक बार प्रताप-प्रेस में साहित्य-सेवियों का एक और समाहार हुआ। कदाचित किसी विवाह में लोग आमंत्रित थे। श्री रायकृष्णदासजी और मैथिलीशरणजी गुप्त पास-ही-पास ठहरे थे। श्री अजमेरीजी हैनला सत्ता का किस्सा अपने लहजे से सुना रहे थे। गणेशजी भी पास बैठे थे। लोग आनन्द ले रहे थे। रायकृष्णदासजी की आकृति एक सुखाकृत संपत्तिशाली नवयुवक की प्रतिकृति थी। वे कम बोलते थे और अधिक सुनते थे। उनका रेशमी बनारसी कुरता, महीन धोती के ऊपर बड़ी शोभा दे रहा था और किसी भी काशी के रईस के चित्त में स्पर्धा उत्पन्न कर सकता था। मैथिलीशरणजी की पेंचदार पगड़ी में भारी बोल सब समाज के ऊपर था। मेरे उनके परिचय का वह पहला समय था। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इधर उनकी कृपा से उनके और उनके छोटे भाई के सारे उत्तमोत्तम ग्रंथ मुझे पढ़ने के लिए मिले। उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई है। उनमें अनुपम अध्यवसाय है और अद्वितीय काव्य-कौशल है।

(४)

गोरखपुर-साहित्य-सम्मेलन में जाना था। कानपुर में प्रिंसिपल हीरालाल खन्ना के निकट स्वर्गीय श्री कृष्णबलदेव वर्मा ठहरे थे। उनके अनुरोध से साहित्य-संमेलन में उपस्थित होना कृष्णबलदेवजी ने स्वीकार कर लिया। हम लोग छोटी गाड़ी से रवाना हुए। लखनऊ में श्री कालीदासजी कपूर भी उसी डब्बे में आगये।

एक आध बार पहले का भी मेरा उनसे परिचय था। उनकी तीव्र मेधाशक्ति का पता मुझे उस समय लग चुका था, जब उन्होंने कानपुर-नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व ग्रहण किया था। गोस्वामी-जयन्ती मनाई जा रही थी। आपको न-जाने कितने सुन्दर-सुन्दर पद गोस्वामीजी की कृतियों के स्मरण थे, कि श्रोता मन्त्र मुग्ध होकर सुन रहे थे। आप इतिहास प्रेमी भी थे। बुन्देलखण्ड के सम्बन्ध में आपने कुछ नई बातें निकालो थीं। वहाँ के कुछ नये कवियों को भी आपने ढूँढ़ा था, जिनका पता अभी तक किसी ने न लगा पाया था।

नागरी-प्रचारिणी-सभावाले आपके भाषण से यह भी ज्ञात हुआ, कि अकबर के सम्बन्ध में आपकी एक विशेष धारणा थी। आप उसे एक बड़ा मक्कार और मुसलमान बनानेवाला शासक समझते थे। उसकी प्रत्येक कार्य-प्रणाली को आप स-सन्देह समझते थे।

कृष्णबल्देवजी केशव के बड़े भक्त थे। उनको यदि अवकाश मिल जाता और यदि उन्हें कोई सुनता, तो वे उनको गोस्वामीजी और सूर से भी उच्चस्थान दे देते। वे उन्हें जातीय भाव का प्रतिनिधि कवि समझते थे। उनके सहस्रों छंद वर्माजी को कंठस्थ थे।

कानपुर से आगे चलते ही रेल में वर्माजी ने अपना बक्स खोला। उससे उन्होंने एक हस्तलिखित पुस्तक निकाली। उसमें किसी कवि ने आल्हा के विषय में से कोई एक प्रसंग छाँटकर अपनी कविता का चमत्कार-प्रदर्शन किया था। यह कोई बुँदेलखंड का ही कवि था। खन्नाजी ने, मैं तथा हम लोगों के एक और मित्र ने जो गोरखपुर जा रहे थे, उनके मुँह उस कवि की ओजस्विनी वाणी को सुना। वास्तव में वह एक अच्छा कवि था।

इसके समाप्त होने पर हम लोगों की साहित्य-चर्चा होती ही रही। उन्होंने एक बुँदेलखंडी अज्ञातनामा कवि का एक और छंद सुनाया। मुझे आज भी वह स्मरण है।

'हम कब कहा कि हमका सिरजो, सिरजेउ तोरि बड़ाई आप।
सच पूछो इंसाफ सो ए तौ बंदे तलक खुदाई आप।

कैसी मीठी चुटकी और ईश्वर के लिये कैसा उपालंभ है। इसी प्रकार और भी छंद उन्होंने सुनाये। फिर केशव की बड़ाई करने लगे! इस संबंध में मैंने उनसे खूब विवाद किया; परन्तु मेरे तर्क को स्वीकार करते हुए भी केशव की राष्ट्रीयता और जातीयता की भावना के कारण उन्होंने अपना मत अक्षुण्ण समझा। 'विश्वीपण' की फटकार के भीतर जो भावना कवि में काम कर रही थी और रामचन्द्र के उपालम्भ में जो आदर्श कवि के समक्ष था, उसी को वर्माजी सब कुछ समझते थे।

संत कवियों के विषय में उनकी धारणा अच्छी न थी। वे उन्हें कवि मानने को बिलकुल प्रस्तुत न थे। कबीर के तो वे ख़ास तौर पर प्रतिकूल थे। एक तो उनकी भाषा और दूसरा उनका हिंदू-मुसलमान को मिलाने का प्रयास, दोनों के वर्माजी प्रतिकूल थे। कालिदासजी भी इस विवाद को सुनने आ गये थे। उनकी आयु का रुग्ण व्यक्ति ऊपर के वर्थ पर बैठा-बैठा एक बजे रात्रि तक बहस करता रहे, यह एक असाधारण बात थी।

मुसलिम-मेल के बेकदर विरोधी थे। उनकी धारणा थी, कि परस्पर संघर्ष करके एकही जाति भारतवर्ष में रह सकती है, दूसरी जाति का कोई स्थान नहीं है।—तो हम लोग गोरखपुर पहुँच गए। साहित्य-संमेलन के दूसरे दिन हम लोगों ने निश्चय किया, कि मगहर जाकर कबीर की समाधि देखी जाय। वर्माजी ने एक गहरी साँस लेकर इस प्रस्ताव का समर्थन किया। खन्नाजी ने एक मोटर का प्रबंध किया। प्रिंसिपल नरेन्द्रदेवजी, प्रिंसिपल खन्ना, वर्माजी, डाक्टर श्रीनिवास और मैं साथ-साथ रवाना हुए। चलते-चलते ही मोटर का पैट्रोल समाप्त हो गया। वर्माजी ने अपने स्मित-व्यंग से कहा—'कबीर की यह पहली सौग़ात है।' लगभग दो मील गोरखपुर से हम लोग चले थे, कि मोटर के नीचे डाकघर का हरकारा दब गया। ड्राइवर गाड़ी भगाए लिए चला गया। हम लोगों ने उसे बहुत रुकने को कहा; परन्तु डर के मारे उसने न रोका। अंत में जब हम लोगों ने उससे यह कहा, कि हम लोग गवाही तुम्हारे प्रतिकूल देंगे, तब उसने गाड़ी रोकी। हम लोग कई मील निकल आये थे। मोटर लौटा ली गई। हम लोगों ने देखा, कि एक किनारे वही हरकारा पड़ा है और कुछ आदमी पास खड़े हैं। वे लोग हम लोगों को घूर-घूरकर देख रहे थे। मोटर वेग से लौट रही थी। रोकते-रोकते वह एक माइल तक आगे बढ़ गई। फिर जब वह लौटा ली गई, तो हम लोग देखते क्या हैं, कि वही हरकारा डाक लिए हुए, धीरे-धीरे जा रहा था। उसके धूल से लिपटे हुए काले कुरते से धोखा हो ही नहीं सकता था। हम लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और हम लोग मोटर को बग़ैर रोके हुए आगे बढ़ गये।

वर्माजी ने डब्बी से निकालकर पान खाते हुए कहा—यह दूसरी सौग़ात है। मोटर ने एक स्थान पर एक स्त्री को और कचरते-कचरते छोड़ा। एक छोटा कुत्ते का बच्चा तो बेचारा दबकर मर ही गया। एक बैल का सींग मोटर से टकरा गया। कई चिड़ियाँ उड़-उड़कर मोटर से टकराकर मर कर गिर गईं। वर्माजी की सौग़ातों की संख्या काफ़ी बढ़ गई थी। हम लोगों को भी कभी ऐसा अवसर न मिला था। अन्त में मगहर से लगभग छः मील की दूरी पर मोटर में पंक्चर हो गया। हम सब लोग उतर पड़े।

वर्माजी की आकृति पर मुसकान थी। इस कष्ट में भी उनके मुँह पर विजय की भावना थी। ड्राइवर ने कई बार मोटर सुधारने का प्रयत्न किया; परन्तु वह न सुधरी। इतने में दूसरी ओर से आती हुई एक मोटर दिखाई दी। आवाज़ देने पर वह रुकी; परन्तु उसने कोई सहायता देना स्वीकार न किया। वर्माजी फिर एक बार हँसे। दूसरी मोटर निकली। उसने खन्नाजी को बैठालना स्वीकार कर लिया था। वे उसमें बैठकर हमारी दुःखद कहानी कहने के लिए गोरखपुर लौट गये।

इधर हम लोगों को भूख लगी। निकट के ग्राम में जाकर हम लोगों ने चने चाबे। नरेन्द्रदेवजी, डाक्टर साहब और मैं, तीनों जनें, गाँव गये थे। वर्माजी मोटर के निकट ही खड़े रहे। लौटते समय

हम लोग उनके लिए पान लेते आये। यही उनका आधार था। यही उनके लिए सब कुछ था। चौबीस घंटों में वर्माजी केवल एक बार खाते थे।

इस बीच में वर्माजी ने कई रोचक आख्यान सुनाये। उस समय की उनकी भाषण-प्रणाली जिसमें कुछ विनोद था, कुछ उपहास था, और कुछ परिहास था, अब भी स्मरण है। एक-एक शब्द तोबस्वर में, परन्तु धीरे-धीरे उच्चारण करते थे। वे अधिकतर गले से बोलते थे। उनकी विरल दन्तावली पर लाल गहरा रंग झलका करता था। हम सबमें अधिक वयवाले होने पर भी हम लोगों से मिले-जुले रहते थे। हम लोगों को भी कोई संकोच कोई दूरी का भय न रहता था। उनकी अधिक आख्यायिकाएँ यवनों के प्रतिकूल और कबीर व्यासजी का उपहास उड़ानेवाली थीं।

खन्नाजी राजा कालाकाँकर की मोटर लेकर आगए। यह सुन्दर ब्यूक गाड़ी था। ड्राइवर भी वयस्क और कार्य-कुशल ज्ञात होता था। इस पर चढ़कर हम लोग मगहर पहुँचे। दुर्भाग्यवश यहाँ भी हिन्दुओं की कबीरी समाधि तो खुली थी; परन्तु मुसलमानों की कबीरी मज़ार बन्द थी। उसका मुल्ला कहीं गया हुआ था। खैर, हम लोगों ने समाधि देखकर ही सन्तोष किया। वर्माजी ने हँसते-हँसते कहा, कि बहुत अच्छा हुआ नहीं तो आज सही-सलामत घर पहुँचना कठिन हो जाता।

सब लोग हँस दिये। सारे स्थानों का निरीक्षण करके हम लोग लौट पड़े। मार्ग में फिर एक बार मोटर एक गड्ढे में गिरते-गिरते बची। ड्राइवर बड़ा कुशल था। परंतु हार्न बजाते ही वहाँ के लोगों की एक विचित्र स्थिति हो जाती थी। जिस कोने पर कोई यात्री जा रहा है, उसी कोने पर दबके खड़े होने के स्थान पर वह झट दौड़कर मोटर के आने से दूसरी ओर भागता था। इसी कारण कई बार कई लोग दबते-दबते बचे। प्रिंसिपल नरेंद्रदेवजी ने इसका जो दार्शनिक ज्ञान हम लोगों को समझाया, वह बहुत जँचा। मनोवेग का भय स्वरूप जब उनमें सहसा उद्दीप्त हो जाता था, तो वे वेग से भगाते थे। अपनी ओर उन्हें अधिक भगाने का स्थान किनारा होने के कारण न था। इसीलिए दूसरे किनारे के ओर लपकते थे। नगर के लोग अभ्यस्त होने के कारण इतने भयभीत नहीं होते। अतएव आगाने की भावना भी उनकी इतनी उद्दीप्त नहीं होती।

गोरखपुर पहुँचकर मेरे मुँह से निकला, 'भगवान ने आज खूब बचाया।' वर्माजी मुस्करा दिए और कहने लगे—'आपको उस भूत पर क्या वास्तव में विश्वास है।' मैं चुप हो गया। उनकी इस नास्तिक मनोवृत्ति का मुझे और भी कई बार परिचय मिल चुका था।

इसके बाद उनके दर्शन एक बार कानपुर में मेरे स्थान पर हुए। हिंदुस्तानी एकेडमी से केशव-संबंधी कुछ कार्य संपादन का भार कदाचित उन्हें मिला था। अपनी अस्वस्थता के कारण वह कार्य वर्माजी मुझसे लेना चाहते थे। मेरे ऊपर उनकी असीम अनुकंपा थी। एक-आध बार पहले भी मुझे उन्होंने अपनी सेवा के योग्य समझा था। केशव-संबंधी सारी योजना हम लोगों ने प्रस्तुत करली थी। कुछ हस्त-लिखित प्रतियाँ भी केशवजी के ग्रंथों की मैंने उनके पास देखीं। यह निश्चय हुआ था, कि आगामी जनवरी से मैं उनका कार्य यथा शक्ति कर दूँगा। परंतु उनके सहसा अस्वस्थ हो जाने के कारण और काशी चले जाने के कारण काम स्थगित हो गया। इस संबंध में उन्होंने मुझे कई पत्र लिखे थे। और उन्होंने कई हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त करली हैं, इसकी भी मुझे सूचना दी थी। परंतु दुर्दैव को कुछ और ही इच्छित था।

(५६ वें पृष्ठ का शेषांश)

कहा—'आप धैर्य्य के साथ इस घाटे को सहन करें। आप ही-ऐसे महानुभाव 'सरस्वती' का सञ्चालन कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।'

और, आज दिन 'सरस्वती' की जो स्थिति है, तथा द्विवेदीजी के आचार्यत्व में उसने हिन्दी-संसार में जो साहित्यिक नवयुग उपस्थित किया, वह हम लोगों के सामने प्रत्यक्ष है।

आचार्य द्विवेदीजी तथा सरस्वती

लेखक—श्रीयुत पं० केदारनाथजी पाठक

[भारतेन्दु जी के अस्त से सन् १९१६ तक के हिन्दी-साहित्य-जगत् का यदि रत्ती-रत्ती ब्योरा जानना हो, तो अब भी इस लेख के वयोवृद्ध लेखक पं० केदारनाथ पाठक जीते हैं। उनके हृदय में अपार संस्मरण छिपे हुए हैं। आधुनिक साहित्यिक उनका उपयोग करें; अन्यथा यह खजाना सदा के लिये उनके हाथ से निकल जायेगा। प्र०]

सन् १८९२ में एक कहार का लड़का, कहीं से द्विवेदीजी-रचित 'देवीस्तुति शतक' नामक छोटी-सी पद्य-पुस्तिका चुराके लाया। उसे दो पैसे में उसने मेरे हाथ बेंचा। उसे पढ़कर द्विवेदीजी की ओर मेरा श्रद्धा-पूर्ण झुकाव हुआ। उससे द्विवेदीजी महाराज के विचार का आभास मिला, कि उस समय वे देवी उपासक थे। परम्परागत वैष्णव संतान होने के कारण, शाक्तमत पर मेरी श्रद्धा न थी; पर उक्त कविता-पुस्तक—क्लिष्ट होने पर भी—मेरे हृदय में काम कर गई। तबसे मैं उक्त महानुभाव-रचित, अन्य कविताएँ प्राप्त करने के उद्योग में लगा रहा।

सन् १८९६ में काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से, एक प्रार्थना-पत्र, पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) की सरकार के पास, इस आशय का भेजने के लिये कि—'हम लोग सरकार से दफ्तरों में देवनागरी जारी करने की प्रार्थना करते हैं—' एक डेपुटेशन, प्रजा का हस्ताक्षर कराने के लिये, २॥ वर्ष तक, इस प्रान्त भर में पर्य्यटन करता रहा। इसी सिलसिले में मैं भी, उसके साथ कानपुर पहुँचा। और, हिन्दी के अनन्य भक्त और पुराने साहित्य-सेवक, मर्चेन्ट प्रेस के मालिक बाबू सीतारामजी के यहाँ रेलगंज में ठहरा।

बा० सीतारामजी का यहाँ कुछ पंक्तियों में परिचय देना अनुचित न होगा। आप उन पुराने हिन्दी-सेवकों में हैं—जिन्होंने 'भारतोदय' नामक दैनिक हिन्दी-पत्र को, सन् १८८५ में निकालकर हिन्दी में दैनिक-पत्र का अभाव दूर किया था। यह बात उस समय की है, जब स्व० बाबू राधाकृष्ण दासजी, स्व० भारतेन्दु हरिश्चंद्र के स्मारकस्वरूप, एक दैनिक-पत्र निकालने के प्रयत्न में लगे थे; किन्तु, उन्हे सफलता न हुई। और, वे एकदम हताश हो गये थे। तब, उक्त बा० साहब का उन्हें एक पत्र मिला—

कानपुर
२१ अप्रैल, १८८५

'प्रिय मित्र,

कुछ देखा-सुना? 'भारतोदय' का जन्म जन्माष्टमी ही को है। यह नित्यमेव प्रकाश करेगा, केवल रविवार को नहीं। लो बस, लेखनी को सुधारो, काग़ज़ को उठाओ। लेखों की मारामारी से, नागरी की इस क्यारी में एक तुम भी न्यारी ही करलो। यह चार यारों—राधाकृष्ण,[1] चरण,[2] प्रताप,[3] राम[4]—की चारयारी है। इसे बाँटो, अपने मन के गट्ठे खोलो। लिखो, कहाँ तक लिखोगे। प्रिय, यदि आज्ञा हो, तो इस निःसहाय हिन्दू को ही, प्रथम 'भारतोदय' में प्रकाशित कर डालें।

आपका अभिन्न—
सीताराम।'

१—बा० राधाकृष्णदास, २—स्व० राधाचरण गोस्वामी, ३—स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र, ४—बा० सीताराम

किन्तु दुर्भाग्यवश, यह पत्र एक वर्ष भी न चलने पाया और अपना नाम छोड़ कर चल दिया। उसे भी अब लोग भूल गये हैं।

ये बा० सीताराम, पू० द्विवेदीजी के पुराने मित्रों में हैं। इन्होंने, हम लोगों के आगत-स्वागत में बड़ी सहृदयता का परिचय दिया। अस्तु।

एक दिन प्रातःकाल पं० गौरीदत्त वाजपेयी तथा पं० गिरिजादत्त वाजपेयी—युगल भ्राताओं के दर्शन हुए। जिन पर द्विवेदीजी का पुत्रवत् वात्सल्य स्नेह आज तक बना है। वे इन दोनों भाइयों को—बी० ए०-एस० ए० तक की शिक्षा दिलाने में बराबर आर्थिक सहायता करते रहे। वे दोनों भाई, आज एक उच्च पदों पर सरकारी नौकरी पर हैं। जिस समय इन वाजपेयी भ्राताओं से साक्षात् हुआ था—उस समय शायद वे, कैनिंग-कालेज (लखनऊ) में पढ़ते थे।

वहीं पर, उक्त बाबू साहब के यहाँ, द्विवेदीजी की चर्चा होने लगी, जिसके द्वारा उनकी रचनाओं के विषय में मैंने बहुत कुछ परिचय पाया। वहीं मैंने उनका लिखा, किन्तु अप्रकाशित, अपूर्व विद्वत्ता-पूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ, कामशास्त्र पर— जिसमें अश्लीलता नहीं थी —देखा। उससे द्विवेदीजी की अगाध विद्वत्ता का पता लगता है। तबसे उनपर मेरी श्रद्धा और भी अधिक हो गई।

सन् १८९७ में, विद्वद्वर द्विवेदीजी ने, 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' तथा हिन्दी और देश-हितैषी स्व० राजा रामपाल सिंह (कालाकाँकर-नरेश) के सुप्रसिद्ध एक मात्र दैनिक 'हिन्दोस्थान' में, अवधवासी लाला सीताराम—अनुवादित 'हिन्दी कालिदास ग्रन्थावली' के कुमार संभव, मेघदूत, ऋतुसंहार आदि ग्रन्थों की, बड़ी तीव्र तथा उग्र भाषा में, लेखमाला के रूप में समालोचना निकालना प्रारंभ किया। जिससे, तत्कालीन हिन्दी-साहित्य-संसार में एक बड़ा भारी तहलका मच गया। इससे हिन्दी-साहित्य-समाज में, समालोचक महोदय की साहित्य-मर्म्मज्ञता की ख्याति चारों ओर फैल गई; पर, सभी पाठकों के मनमें यह बात जम गई, कि ऐसी कड़ी समालोचना अवश्य रागद्वेष, ईर्ष्या के वशीभूत होकर लिखी गई है। तो भी समालोचना अधिकांशतः सच्ची थी।

जाँच करने पर उक्त आक्षेप करनेवालों की बात किसी अंश में ठीक निकली। लाला सीताराम जब झाँसी में डिप्टी कलेक्टर थे, उस समय द्विवेदीजी परस्पर विद्वान होने के नाते, उनसे मिलने को, सात-आठ बजे रात्रि में गये। उस वक्त, उक्त लाला साहब किसी आवश्यक कार्य में लगे थे, जिसके कारण न मिल सके। द्विवेदीजी—ऐसे आत्माभिमान रखनेवाले विद्वान को यह उनका असद्व्यवहार जँचा; और है भी ठीक। जिसका परिणाम यह हुआ, कि लालाजी की उन अनुवादित कृतियों की समालोचना, द्विवेदीजी, कड़े और मर्म्मभेदी शब्दों में निकालने लगे।

इसके बाद, उक्त लालाजी-संशोधित 'हिन्दी-शिक्षावली' (तीसरा भाग)—की समालोचना, पुस्तकाकार प्रकाशित करके, द्विवेदीजी ने शिक्षा-विभाग के पास भेज दी। शिक्षा-विभाग का ध्यान इस ओर गया और शायद हिन्दी-शिक्षावली के प्रकाशक इण्डियन प्रेस पर धाक जम गई।

इसी समय, चाहे कुछ आगे या पीछे, लाला साहब के सुपुत्र बा० कौशलकिशोर बी० ए० को, द्विवेदीजी की उक्त समालोचनायें असह्य हुईं। उन्होंने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'भारतमित्र' में इस आशय की एक समालोचना छपवाई कि—'पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास के किसी ग्रंथ का अनुवाद भी किया है या ला० सीताराम के ही ग्रंथों में त्रुटियाँ दिखलाना जानते हैं।'

इस पर द्विवेदीजी ने उत्तेजित होकर झटपट कालिदास के एक सुप्रसिद्ध ग्रंथ का 'कुमार संभव-सार' नाम से पद्यानुवाद करके, काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा को प्रकाशनार्थ भेज दिया।

उधर विद्वद्वर लाला सीतारामजी बी० ए०—श्री सीताराम की भाँति—शांतभाव से सब प्रहार सहन करते रहे, निज नाम को चरितार्थ करते रहे। यहाँ तक कि अपने मित्रों को—जो कि द्विवेदीजी के आक्षेपों का प्रतिवाद करने का इरादा जाहिर करते थे—लालाजी रोक देते थे। उनकी यह सहन-शीलता सराहनीय कही जा सकती है। इसी भाँति, श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने भी, 'महावीर' नाम को निज प्रखर लेखनी—गदा—चलाकर निज नाम को चरितार्थ कर दिखाया। शायद

'यथा नाम तथा गुण'—लोकोक्ति ऐसे ही अवसर पर काम में लाई जाने के लिये गढ़ी गई है।

यह सम विद्या बुद्धि रखनेवाले विद्वानों का परस्पर की खींचातानी है। इन झगड़ों से हमें कोई काम नहीं; हमारे लिये दोनों ही सज्जन, हिन्दी-साहित्य के नाते पूज्य तथा आराधनीय हैं।

सन् १८९९ के अन्त में स्व० बा० राधाकृष्णदास तथा बा० श्यामसुन्दरदास बी० ए० का कार्यवश प्रयाग जाना हुआ। वे लोग 'भारतीभवन-पुस्तकालय' में ठहरे। वहाँ इंडियन-प्रेस से १८९८ में प्रकाशित, और बा० रसिकलाल—रचित 'खिलौना' नामक पुस्तक का हिन्दी-संस्करण देखकर दोनों सज्जन बड़े प्रसन्न हुए। उक्त पुस्तक आज भी हिन्दी में बालकों के लिये उपयोगी और नई चीज़ है। अस्तु। दोनों महानुभाव प्रसन्नता-पूर्वक, इन्डियन-प्रेस के स्वामी बा० चिन्तामणि घोष से मिले, और प्रसंगवश उनकी सेवाओं की चर्चा करते हुए कहा, कि आप हिन्दी-साहित्य के लिये उत्तमोत्तम विषयों पर सुलेखकों से पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करें तथा एक सुन्दर मासिक-पत्र भी निकालें, तो हिन्दी का असीम उपकार होगा। तब घोष बाबू ने कहा, कि हमारा भी विचार एक उच्चकोटि के मासिक-पत्र के निकालने का है, जो कि बा० रामानन्द चटर्जी एम० ए०-द्वारा सम्पादित 'प्रदीप'—बंगला मासिक-पत्र—के ढंग का हो। यहाँ पर यह बता देना शायद अनुचित न होगा, कि यह 'प्रदीप' नामक पत्र, हिन्दी तो क्या, समस्त भारतीय भाषाओं में एक मात्र अपने ढंग का पहला पत्र था, जिसका नाम विद्वान सम्पादक महोदय ने, स्व० पं० बालकृष्ण भट्टजी के 'हिन्दी-प्रदीप' के 'प्रदीप' को लेकर उद्दीप्त किया था। उन दिनों, कायस्थ-पाठशाला प्रयाग में रामानन्द बाबू प्रिन्सिपल थे और भट्टजी संस्कृताध्यापक। दोनों सज्जनों में प्रगाढ़ मित्रता थी। रामानन्द बाबू, भट्टजी का बहुत सम्मान करते थे। अस्तु।

स्व० चिन्तामणि बाबू की प्रस्तावित पत्रिका का नाम 'साहित्य' रखने का विचार किया गया; पर उन दिनों, सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी स्व० सुरेशचन्द्र समाजपति का 'साहित्य' नामक पत्र बँगला में निकालता था; अतः जनवरी, सन् १९०० से, अपने अछूते नाम से, 'सरस्वती' ने, हिन्दी-संसार को दर्शन देना आरंभ किया। उस समय हिन्दी-साहित्याकाश में बहुत थोड़े-से सुयोग्य लेखक ही संध्या-तारा की तरह चमचमा रहे थे। उन्हें भी कोई उत्साह देनेवाला न था। उस समय 'सरस्वती' का प्रकाशन-समाचार सुनकर, स्वर्गीय पं० रुद्रदत्त शर्मा ने कहा था—'हिन्दी में इतने उच्चकोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे! पत्र का चलना अभी कठिन है।'

पहले वर्ष 'सरस्वती' का सम्पादन करने के लिये, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने—अपनी अनुमोदित पत्रिका होने के कारण—अपने सुयोग्य सभासदों में से पाँच सज्जनों की एक समिति बना दी। इस सम्पादन-समिति के सदस्य ये महानुभाव थे—बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', स्व० बा० राधाकृष्णदास, स्व० बा० कार्त्तिकप्रसाद खत्री, पं० किशोरीलाल गोस्वामी और बा० श्यामसुंदरदास।

उस समय पूज्य द्विवेदीजी इत्यादि 'सरस्वती' के प्रधान सहायक लेखकों में थे।

उसी समय, द्विवेदीजी ने 'नैषध-चरित-चर्चा' नामक एक गवेषणात्मक एवं पाण्डित्य-पूर्ण लेख नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (सन् १९००, भाग ४, सं २) में लिखा था। जिस पर 'सुदर्शन' के स्व० सुयोग्य सम्पादक, वाण-तनय पं० माधवप्रसाद मिश्र, निज शस्त्र चक्रसुदर्शन को धारण करके, शिविर से निकलकर संस्कृत-साहित्य की सर्म्मज्ञता के बल पर, रणांगण में आकर खड़े हुए। तब द्विवेदीजी ने 'नैषध-चरित-चर्चा' और सुदर्शन नामक लेख 'सरस्वती' के प्रथम भाग की छठी संख्या में छपवाया। इससे पहले हिन्दी-संसार में, इस प्रकार का अनुसन्धान-पूर्ण तर्क-युद्ध मेरी जानकारी में नहीं देखने में आया था। उस तर्क-युद्ध को देखकर हिन्दी-संसार में हलचल-सी मच गई। हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने उसी तर्क-युद्ध से, समालोचना में वाद-प्रतिवाद का आधुनिक ढंग सीखा। उस अनुकरण से हिन्दी-साहित्य का भविष्यत् के लिये महान उपकार हुआ।

इसके पश्चात 'सरस्वती' में पू० द्विवेदीजी के १५ विद्वत्ता-पूर्ण लेख और निकले। दूसरे वर्ष, १९०१ ई० में, सम्पादकीय प्रबन्ध में असुविधा होते देख, 'सरस्वती' की सम्पादक-समिति तोड़ दी गई। और सम्पादन करने का समस्त भार आदरणीय बा० श्यामसुन्दरदासजी बी० ए० को सौंप दिया गया।

इसी वर्ष, (भाग ३, सं० ६, पृ० १९५) श्री द्विवेदीजी का एक लेख 'नायिका भेद'—शीर्षक 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। उसे देखकर हिन्दी-साहित्य के पुराने खूसट विचारवानों का दिमाग़ खौल उठा और चारों ओर से उस लेख और उसके लेखक का घोर विरोध होने लगा, जिसके अग्रणी हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक और पत्र-सम्पादक, 'भारत-मित्र' के स्व० लाला बालमुकुन्द गुप्त थे। यों तो उनके सहगामी सभी पत्र-सम्पादक और लेखक हो गये थे। हिन्दी-साहित्य की दुनिया में उस समय बड़ी चहल-पहल मची हुई थी। श्री द्विवेदीजी सबके प्रहारों के मुकाबिले में बराबर अकेले, प्रतिद्वन्द्विता के लिये डटे रहे।

उसी वर्ष की संख्या पाँच में द्विवेदीजी ने 'विधि-विडम्बना'-नामक हास्यरस-पूर्ण एक कविता लिखी। वह कविता मुझे बहुत सरस और सुन्दर मालूम हुई। कारण, कानपुर-निवासी सुप्रसिद्ध तुर्रेवाले स्व० रामप्रसाद त्रिपाठी के मुख से ऐसी ही ओज-पूर्ण लावनी—या ख्याल—अपनी जन्म-भूमि (मिर्ज़ापुर) में मैंने सुनी थी। उसमें ब्रह्माजी बेचारे की बहुत बड़ी-बड़ी भूलें चार-पाँच 'चौक' में दिखाई गई थीं। मुझे इस समय सिर्फ उसकी टेक के प्रथम दो चरण ही याद हैं—

'ब्रह्मा ने जब रचा सृष्टि को उनसे ना बना बनाते जी।
हम से जो पूछते तो हम रचना की राह बताते जी॥'

शायद, इसी ढाँचे और भाव को आदर्श मानकर, द्विवेदीजी ने विधि-विडम्बना की रचना की है। 'विधि-विडम्बना' की प्रायः बहुत-सी वर्णित बातें उक्त पूर्वरचित लावनी में हैं। द्विवेदीजी की कविता के कुछ चरण, भिन्न-भिन्न स्थान से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं; आशा है, पाठकों का मनोरंजन होगा—

'चाह चरित तेरे चतुरानन ! भक्तियुक्त सब गाते हैं; इस सुविशाल विश्व की रचना तुझसे ही बतलाते हैं।
चतुर्वेद की शपथ तुझे है, मुझे बात यह बतलाना, तूने भी, कह, क्या अपने को महाचतुर मन में माना ?
नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं; सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं ?
मूर्ख, धनी, विद्वज्जन, निर्धन, उलटा सभी प्रकार; तेरी चतुराई को ब्रह्मा ! बार-बार धिक्कार !'

इस कविता को पढ़कर मैं तो आनन्दित हुआ; पर, चतुरानन की चतुराई पर आक्षेप होने से कितने ही चतुरानन-कुमार विपक्ष में, निज पितृव्य के नाते वकालत करने को खड़े हो गये थे, जिससे साहित्य-संसार में एक कौतूहल का जमाना उपस्थित हो गया था। आलोचकों—की बुद्धि की बलिहारी है।

१९०२ में, 'सरस्वती' के तीसरे वर्ष की सातवीं संख्या में, 'प्रतिभा' शीर्षक एक विचारपूर्ण लेख छपा। जिसमें बड़े-बड़े विद्वान प्रतिभाशाली लोगों के स्वभाव, बड़ी ही खोज के साथ दिखाये गये हैं और सभी प्रतिभाशाली पुरुषों को उनकी हरकतों से, बड़ी युक्ति और विचार के साथ एक प्रकार का 'पागल' सिद्ध कर दिखाया गया है।

इस लेख को पढ़कर मैं बहुत आनंदित हुआ। क्यों ? इस 'प्रतिभा' लेख के लेखक महोदय को भी एक महान प्रतिभाशाली पुरुष मान करके हिन्दी की सारी दुनिया आदर तथा सम्मान करती है। इस लेख के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख फिर कभी किया जायगा।

सन् १९०३ से, चौथे भाग से, इण्डियन-प्रेस के मालिकों के अनुरोध से, 'सरस्वती' का सम्पादन-भार द्विवेदीजी ने अपने हाथ लिया।

उस समय 'सरस्वती' के ग्राहकों की संख्या इतनी अल्प थी, कि बराबर घाटे-पर-घाटा हो रहा था। 'सरस्वती' के मालिकों ने उसे बंद कर देने का इरादा जाहिर किया। 'सरस्वती' के साथ मेरी आन्तरिक सहानुभूति उसके जन्मकाल से ही थी और समय-समय पर मैं उसे ग्राहक भी देता रहा। शायद इसी प्रगाढ़ सहानुभूति के नाते, प्रकाशकों ने मुझसे भी अपना इरादा जाहिर किया। मैंने

(शेषांश ५२ वें पृष्ठ के नीचे)

कश्मीर प्रवास के दो अनुभव

लेखक—श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार

सन् १९२७ की बात है। तब राजनीतिक वातावरण में कर्मण्यता और प्रचंडता वैसी नहीं थी। गांधी की बात को गले से उतार कर उस समय यह भारतदेश आलस-निमग्न भाव से, चुपचाप पचाने की क्रिया कर रहा था।

राजनीति-ग्रस्त व्यक्तियों को अपने जीवन के और पहलुओं को सँवारने और सँभालने का उस समय अच्छा सुयोग प्राप्त हो गया। कुछ ने उस सुयोग से, अपनी चतुराई के बल पर प्रचुर लाभ उठा लिया। वे अपने को हुड बनाकर बैठे रहे—चाहे लौटकर फिर राजनीति में ही बैठे हों, या इधर-उधर हटकर समाजनिति में, 'बार' में, व्यवसाय में या सरकार की किसी कुर्सी में बैठे हों! और जो चूके, सो चूके।

महात्मा...जी को तब एक प्रयोग की सूझी। सूझी तो पहले भी होगी; पर रह-रह गई होगी। सन् १० में उनके जीवन के क्रम-विकास को एक विशिष्ट दिशा मिली। सन् १८ तक अव्याबाध गति से वह उसी दिशा पर उन्नत होता रहा। धार्मिक चेतना में से वह विकास उद्भुत हुआ था। त्यागमय उसका रूप था, आध्यात्मिकता उसकी प्रकृति थी। उस दिशा पर चल पड़ने पर, वैसे प्रयोग की बात जीवन में आना अनिवार्य ही था। सन् १८—१९ के गरमागरम काल में वह विकास राजनीति की पटरी पर आ रहा। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हो अनुकूल मिलती चली गईं। यहाँ पर यह कहना नितांत निर्भ्रान्त न होगा, कि जो हम खिलौनों को चलाता-भगाता है, उस मदारी लाइन्ट मैन की कुछ चूक ही हुई, कि गाड़ी यों ग़लत 'शेट' होकर अनुपयुक्त पटरी पर चल पड़ी। बात यह है, कि हमें सब कुछ चूक लग सकता है, होता सब कुछ ठीक है, यही कहने को जी चाहता है, कि वास्तव में इस प्रकार राजनीति से चल पड़ने पर उस मौलिक विकास की स्वाभाविकता में और सरलता में व्यतिरेक और व्याघात नहीं पड़ा, वरन् वह तो अधिकाधिक स्पष्ट और सम्पन्न होता ही चला गया।

यह जेल, वह जेल,—सन् १८ के आरंभ से लगाकर कई वर्षों तक बस यह हाल रहा। इस तरह जो बात मनमें पहले भी उठ-उठ चुकी होगी, उसे अनुभव में उतार देखने का अवकाश अब कहीं सन् २७ में आया। इससे पहिले कुछ और सोचने-करने की गुंजायश नहीं निकल सकी।

(२)

मुझे तार मिला, कि अमुक दिन दिल्ली पहुँच रहा हूँ। रावलपिंडी जाना है। दो और साथ हैं। स्टेशन पर मिलो।

रावलपिंडी से कश्मीर रास्ता जाता है, यह मुझे तुरंत याद आगया। कश्मीर की भूख जी में थी ही। मनने कुछ यह भी कहा, कि हो-न-हो महात्माजी कश्मीर ही जा रहे होंगे। जब तक महात्मा जी यहाँ पहुँचे, तब तक रावलपिंडी जाने का कारण और काम मेरे साथ भी निकल आया। स्टेशन पर मैं उन्हें मिला और सामान के साथ मिला, और उनके साथ ही रावलपिंडी के लिये सवार हो लिया।

उनके साथ मेरे मित्र अम्बुलकर थे, और एक ताज़ा ग्रेजुएट थे। या यह कहना ठीक होगा, कि उनकी ताज़गी निष्पन्न होने में ही आ रही थी। कॉलेज की डाल से टूटकर दुनिया के मोल-तोल के बाज़ार में जा पहुँचने में उन्हें कुछ कसर थी—रिज़ल्ट अभी नहीं आया था। अभी तक धरती से

बहुत ऊँचे रहकर डाल में लगे-लगे ही उन्होंने सूरज की धूप और हवा की लोरियाँ खाई थीं ; लेकिन जब शिक्षा के रस से भरकर पक उठेंगे, तब डाल उन्हें उस तरह अपने ऊपर धारण नहीं रख सकेगी, तब उन्हें गिरकर धरती पर ही आ रहना होगा। वह नहीं थे, जहाँ कि स्वप्न तोड़ना होता है, और सोचना होता है—'धरती पर अब आये, अब आये।' परीक्षा के बाद की छुट्टियाँ बिताने, वह भी महात्माजी के साथ हो लिये थे।

दूसरे मित्र अद्भुत थे। हद के फक्कड़। बहुत अच्छा गाते थे। आवाज़ ऐसी थी, कि बड़ी प्यारी। धोखा कभी न देती थी, ऊँचे-से-ऊँचे चढ़ाव पर या हलके-से-हलके स्वर में वह वैसी ही स्वाभाविक, सरस रहती। असहयोग के दिनों में फोर्थ ईयर से पढ़ना छोड़ दिया था। अंग्रेजी बे-हिचक बोलते थे, और हरदम नंगे पैरों पर जाँघिया पहने रहते थे। ऊपर कमीज़ हुई-हुई, न हुई न हुई। असहयोग में पड़कर असहयोग के हो रहे। घर-बार जैसी भी कोई वस्तु होती है, इसका ध्यान ही न उठता। जो मिला उसी को पाकर खुश, न मिला, तो और भी खुश। गुस्से की बात पर कभी गुस्सा न होते थे, होते थे, तो बेबात के यों-ही हो जाते थे। और फिर गुस्सा था कि राम-राम। हिंदी को मराठी बना-कर बोलते थे, या मराठी को हिंदी बनाकर। कहना कठिन है ; पर चीज़ वह अजीब होती थी, अपूर्व, और बड़ी मीठी। पर, कह बैठिये, कि हिंदी पूरी मुहावरेदार नहीं हुई, तो समझिये, पूरी शामत बुला ली। 'तुम्हीं बताओ नहीं तो हिंदी क्या होती है।' उनकी हिंदी की धाक माने बिना गुज़ारा नहीं। यों सदा कहते रहते, कि मुझे हिंदी सिखा दो, हिंदी सिखा दो, और कोई नया शब्द आया, नया मुहावरा मिला, झट अपनी नोटबुक में दर्ज करते रहते। पंजाब में प्रवेश पाते-पाते गुरुमुखी वर्णमाला उन्होंने सीख डाली। महात्माजी के पक्के साथी बनकर वह आये थे। जीवन-भर हिमालय के हिम और वनों में ही रह जाने की बात आये, तो उसके लिये भी उद्यत? 'एम्बिशन' नामक वस्तु से उनका परिचय पुराना हो गया था और उस शहरातिन से ऐसी पक्की छुट्टी ले बैठे थे, कि उसे उठने की हिम्मत न होती थी। भीतर कहीं थी भी, तो मुर्झाई, बेजान पड़ी थी। इनके भीतर रहकर वह भूखी मरती थी। कोई संकट आये, आगे वह। जलसा-जुलूस हों, तो उन्हें ढूँढते ही फिरो, कहीं पता नहीं।

महात्माजी और इनके बीच में ही कुछ तय पाया था, और इस यात्रा का सूत्र-पात हुआ था।

रेल में मुझे पता चला, कि जा कश्मीर ही रहे हैं ; पर बात जरा टेढ़ी है। रावलपिंडी से रेल छूट जायगी, और किसी सवारी के आसरे की कल्पना को भी परे रखना होगा, और फिर पैदल कंधे पर सामान रखकर चलना होगा।

मेरे साथ ट्रंक-वेडिंग था। मैंने बताना आरम्भ किया, कि किस तरह पीठ पर सामान लादकर चलना बहुत सुन्दर दृश्य उपस्थित न करेगा। इस तरह लौटकर पीठ को साबित ही पाने का भरोसा भी पूरा नहीं है, और यह कि यह सब कुछ नितांत अकल्पनीय धारणा है।

पर अकल्पनीय हो, कुछ हो, साथ चलना हो, तो मैं वैसे साथ चलने को तैयार हो जाऊँ, नहीं तो अपना रास्ता देखूँ और मौज करूँ।

और इस प्रकार मुझे सम्पूर्ण स्वातंत्र्य देकर वे तीनों मुझ पर हँसने लगे।

मैंने मन में समझ लिया कि इनकी यह हँसी मुझसे नहीं झेली जायगी, और मैंने कहा—अच्छी बात है। रावलपिंडी तो पहले पहुँचें। वहाँ जाकर फिर आगे की देखी जायगी।

यहाँ पर मुझे महात्माजी के मनसूबे भी मालूम हो गये थे। इतना ही नहीं था, कि वह कश्मीर पैदल जायेंगे। जाते-जाते वह पैसा भी छोड़ देंगे। फिर बे-पैसे चलना होगा। भीख में रोटी मिल गई, तो ; नहीं मिल गई, तो। दो-एक महीने कश्मीर में रहकर राह ठीक मिल जानी चाहिये, फिर, पहाड़-ही-पहाड़ भारत के उस कोने सिकिम-दार्जीलिंग तक जायेंगे। और यों ही बिचरेंगे। जन-समाज का सम्पर्क, जो जीवन-यापन की आवश्यक-सी शर्त बन गई है, देखेंगे, कि वह क्यों न अनावश्यक सिद्ध हो जाय ; और लोगों से दूर, हिमालय की गोद में, हरियाली से घिरकर, मधुकरी पालकर,

सर्वथा निस्संगी और एकाकी रहकर क्यों न जीवन की सम्पूर्णता उपलब्ध की जा सके?

इन मनसूबों से मैं डरने के सिवाय कुछ नहीं कर सकता था। मैं कैसे इस सब में महात्माजी का साथ दे सकूँगा?

वह प्रेजुडिस सज्जन इस समय मेरी युक्ति का साधन बने। जब ऊपर की बात हुई, तब उन्होंने कहा—आप जहाँ चाहें, जाइये। श्रीनगर तक तो हम साथ हैं, वहाँ से लौट आयेंगे। हम तो कश्मीर देखने चल रहे हैं।

मैंने कुछ कहा नहीं ; लेकिन मैंने सोच लिया, इसी तरह की राह मेरे लिये भी निकल सकती है।

महात्माजी की ओर से छुट्टी थी ही कि जहाँ से जो जाहे, लौट आये। और लौटने की बात की आशंका हमीं दोनों तक थी। अम्बुलकर की निगाह में लौटना कुछ चीज़ ही नहीं है। जो कुछ है, आगे चलना है, लौटना भी एक तरह का आगे चलना ही है 'अब होता नहीं, चलो, लौटो।'—अम्बुलकर का लौटना ऐसा नहीं होता ; इसलिए लौटकर भी वह आगे ही बढ़ता है।

आख़िर, रावलपिंडी आ गया। और उन लोगों को अचरज हुआ, जब अपना परिग्रह जिस किसी को सौंपकर ज़रूरी कपड़ा अपनी कमर से कसकर मैं भी उन लोगों के साथ चल पड़ने को तैयार हो गया।

हम चल पड़े।

(३)

कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं, कि उन्हें संयोग कह देने से जी को तृप्ति नहीं होती। संयोग के अतिरिक्त उन्हें और कुछ कहने का साहस भी कैसे हो? बुद्धि वहाँ आकर रुक जाती है, और उनसे टकराकर सुन्न होकर बैठ रहती है। आगे उसके लिये धरती नहीं, राह नहीं, गति नहीं। कुछ भी चीन्ह पाने का आगे सुभीता नहीं—बस ऊपर, नीचे, भीतर, चारों ओर से हमें घेरकर जो महाशून्य अटल रूप में अवस्थित है, खोखला, निर्भेद्य, फिर-फिरकर दीवार-बना हुआ-सा वही-वह हमारे सामने आ रहता है। और उसके नीले तल पर, हमारी आँखों की सीध में, आ ठहरती हैं, वे घटनाएँ, जो व्यंग और भेद की हँसी में चमक-चमककर मानों पूछती हैं—'बताओ तो भला, हम क्या हैं, कौन हैं?' उस समय उस अज्ञात के तट पर खड़े होकर जी होता है, हम उसके अनंत गर्भ की नीलिमा में आँखें फाड़-फाड़कर कुछ देखने की स्पर्द्धा में अंधे क्या बनें, क्यों नहीं हम आँख मूँदकर घुटनों आ बैठें, दो बूँद आँसू ढर जाने दें, और गद्गद कंठ से गुहार दें—'हे अज्ञात, तू ही है। हम सब और हमारा समस्त ज्ञात तेरे गर्भ में है, और तू उससे परे है, अज्ञात है। तू ज्ञात नहीं है, इससे तू ही है, तू ही सत्य है। मैं तुझमें, तेरी शरण में हूँ।'

• • •

आगे ऐसीही दो घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जो कश्मीर-प्रवास में हमारे साथ अतर्क्य रूप में घट गईं।

(४)

गुलमर्ग श्रीनगर से कोई पचीस मील है। बड़ी लुभावनी जगह है। सम्पन्न और जानकार पर्यटनार्थी कश्मीर आकर अधिक काल वहीं रहते हैं। जब श्रीनगर तपता है, तब वहाँ आप बर्फ़ पा सकते हैं। ९००० ऊँचाई है। कदाचित् भारत का सबसे ऊँचा स्वास्थ्य-स्थल है।

कश्मीर आकर गुलमर्ग हमसे कैसे छूट रहता। हम लोग वहाँ पहुँचे।

उन्नत शैल-शृङ्गों से घिरा हुआ पहाड़ी गोद में गुलमर्ग ऐसा बसा है, मानों हरे दोने में सफ़ेद फूल बिखरे हों। पूरे-पूरे छितरे हुए कुछ मकान हैं, बीच-बीच में हरे लान हैं। पहाड़ के शीर्ष पर मानों एक अंजलि बनी है, उस अंजलि की हथेली में मनुष्य नामक कुछ प्राणी बसेरा डालकर खेल रहे हैं ; और यह महाकाय हिमाचल, अपनी अंजलि को इसी प्रकार अपरिसीम आकाश के सम्मुख अर्घ्य से भरी

लिये रहकर, मानों उसकी स्वीकृति की प्रतीक्षा में अनन्त काल से यों अवसन्न पड़ा है।

हम चार अकिंचन वहाँ पहुँचे। साधु थे; पर साधु नहीं थे। साधुत्व के विज्ञान और व्यवसाय से अत्यन्त अपरिचित थे। कुछ दक्ष साधु भी हमारे देखने में आये, जो चन्दन की पादुका और केवल पश्मीना और रेशम के वसन ही धारण कर सकते थे। मुख मंडल उनका तेज और तेल से दीप्त रहता था और वह सदा भक्त मंडल से घिरे रहते थे; पर हम इस हुनर से कोरे थे। वस्त्र कापाय कर लेने की चिन्ता भी हमने नहीं की थी। न हमारा परिधान अत्यन्त उज्ज्वल—श्वेत—था।

फिर भी, न जाने घोड़े वालों ने क्या समझ लिया, कि अब हम कहीं से कुछ पाकर एक देवालय के बरामदे में अपनी क्षुधा शाँत करने में लगे थे, कि उनके झुंड के-झुंड हमारे सामने आकर धरना देकर खड़े हो गये। अनेक स्वर एक साथ कहने लगे—'बाबा खेलनमर्ग चलेगा? हम ले जायगा, हमारा घोड़ा...' और सब-के-सब अपने-अपने घोड़े की सविशिष्ट पात्रता का बखान करने लगे।

गुलमर्ग से तीन मील और ऊपर जाने पर हिमाच्छादित गिरि-शृंग आता था। उसी का नाम खेलनमर्ग था। जो गुलमर्ग आता था, खेलनमर्ग देखता ही था। ऐसे किसी नये यात्री की बाट देखते यह लोग बैठे रहते थे, और उसको अपने घोड़े पर गुलमर्ग पहुँचा कर जो पाते थे, उस पर पेट पालते थे।

उन लोगों का अपने-अपने घोड़ों के बारे में उत्साह और विश्वास और प्रशंसा का प्रदर्शन उस समय हमें कुछ बहुत दिलचस्पी का विषय नहीं जान पड़ा। हलकी-सी उन्हें टाल देने की चेष्टा करके हम अपनी क्षुधा-तृप्ति में संलग्न रहे। हमारी उस चेष्टा से उन लोगों के धरने में कोई शिथिलता नहीं आई, वरन् कुछ कड़ाई ही आई; क्योंकि उन्हे हमारी चेष्टा में से उतना ही भावार्थ प्राप्त हुआ, कि हमें उनकी माँग के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य है। वे विश्वसनीयता और पात्रता के प्रमाण-स्वरूप अपनी-अपनी छाती ठोकते हुए और तरह-तरह के लोभनीय वाक्य कहते हुए सामने ही डटे रहे।

तब क्या हमें यह भूल चला, कि हम कौड़ी-विहीन होकर वहाँ भिक्षान्न प्राप्त कर रहे हैं और जीन चढ़े कसे हुए तैयार घोड़े सवारी का जो सानुरोध और सानेक स्वर आमंत्रण हमें दिया जा रहा है। वह हमारे किसी प्रकार के भी सरोकार को वस्तु नहीं होनी चाहिये? तब क्या हमें यह करीब जान पड़ा, कि इन दीन घोड़ेवालों के सामने जाकर हम यह घोषणा करें, कि हम तुमसे भी दीन हैं और ताँबे के एक पैसे का सुभीता भी हमारे पास इस समय नहीं है; इसलिए तुम लोग जाओ। उस समय और क्या बात हुई—कहना कठिन है।

उस समुदाय को सामने पाकर हम नीची आँख करके भोजन-समाप्ति की संलग्नता को अटूट बना रहने देने में दत्तचित्त हो रहे।

मैं इससे पहिले कभी घोड़े पर नहीं बैठा था। मेरे मनमें हो रहा था, कि अगर घोड़े पर बैठने की नौबत ही आ गई, तो अपनी तो बड़ी भद होगी। मनमें यह खतरा था, कि सच, वह मौक़ा सामने ही कहीं न आ जाय। कुछ यह भी था कि, घोड़े पर अभी तक बैठे नहीं हैं, जाने घोड़े की सवारी कैसी होती है। मैंने कहा—'महात्माजी, घोड़े कर लें, तो बड़ा अच्छा हो।...कर भी लीजिये।

अम्बुलकर बचपन में खूब घोड़े की सवारी कर चुका है, और उसे उन दिनों का आनन्द खूब याद है। उसने कहा—'हाँ महात्माजी, कर लीजिये।'

तीसरे मित्र के समर्थन करने की चेष्टा व्यर्थ गई; क्योंकि महात्माजी ने आँख ऊपर उठाकर घोड़ेवालों से पूछा—एक घोड़े का क्या लोगे?

'एक रुपया...' बहुत से स्वरों ने यह कहा और सबने यह जतलाना आरंभ कर दिया, कि यही बँधा रेट है। इसमें फूल-ताल, कम-बढ़ हो ही नहीं सकती।

महात्माजी ने कह दिया—तीन रुपये में चार घोड़े लाना हो, तो ले आओ।

और वे तीन रुपये में चार घोड़े लाने की बात की असंभवता और अनुपयुक्तता पर कुछ उद्गार

में चार आदमी चार कसे घोड़े लाकर सामने उपस्थित होगये।

अब तो घोड़े आ ही गये! उगली बात को निगला तो नहीं जा सकता। महात्माजी ने गंभीर भाव से कहा—यहाँ ले आओ, इधर। और जब बरामदे के चबूतरे के साथ ही वे घोड़े आ लगे, तब हमसे कहा—चलो, बैठो। हमारी शंकित-चित्तता को उन्होंने देख लिया और कुछ मुस्कराकर कहा—चलो, बैठो भी। हम चारों जने बारी-बारी से एक-एक घोड़े पर बैठ गये।

बैठ तो गये; पर मज़ा कहाँ। स्फूर्ति का पता नहीं। जैसे कैदी बनकर जा रहे हैं। मन में उत्साह की जगह आशंका थी। घोड़ों पर जैसे हम नहीं बैठे थे, हमारा बोझ लदा था। हमारे बोझ के नीचे वे घोड़े भी सिर झुकाये खुट-खुट चल रहे थे। 'जा तो रहे हैं; पर फिर होगा क्या'—यही विचार हमारी चेतना पर जाकर बैठ गया, जैसे कोई विषाक्त गैस हमारे भीतर फैलकर छा बैठी हो। हमारा आनंद सुन्न हो गया।

अब बोलो, हम पर क्या आफ़त थी? सबका ज़िम्मा लेकर जब महात्माजी ने सब कुछ किया और उसका बोझ भी वह उठायेंगे और उठाने को तैयार हैं, तब हमसे क्या इतना भी नहीं हो सकता, कि व्यर्थ बहुत चिंता के नीचे हम न पिसें? लेकिन जब देखते हैं, तो पाते हैं, महात्माजी के चेहरे पर कोई वैसा त्रास का भाव नहीं है, वह साधारणतः निश्चिंत-प्रफुल्ल से ही दीख पड़ते हैं। मुझे लगा जैसे महात्माजी यह अच्छा नहीं कर रहे हैं। आफ़त बुलाई, और अब उसकी तरफ पीठ करके उसे देखना नहीं चाह रहे हैं, और हँस रहे हैं। उस आफ़त की तरफ़ पूरी तरह देखने से हम कैसे इंकार कर सकते हैं!

अपनी दृष्टि से यह बात हमने महात्माजी से बहुत स्पष्टता से कही। कहा—'महात्माजी, क्या होगा?'

महात्माजी ने कुछ मुस्कराकर ही कहा—'भाई, जो हो गया, सो हो गया। और, जो होगा सो हो जायगा।...'

और जब उन्होंने देखा कि इस गहन तात्त्विक तथ्य के प्रतिपादन से हमारे चित्त को समाधान-जैसी कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती, तब जोड़ा—'अच्छा, अब तो चले चलो। पीछे देखेंगे। देखने का काम अब तो पीछे ही हो सकता है। न हुआ, किसी से माँग-चूँगकर दे देंगे। तीन रुपये की ही तो बात है।'

हम चले तो चले; पर शंका हमारी कहीं जाती न थी। हमारे यह अच्छी तरह समझ लेने पर भी स्थिति में कुछ विशेष सुधार न हुआ कि शंका को भीतर मज़बूती से बैठा लेने से हाथ कुछ नहीं आता, केवल घोड़े की पीठ परसे लुढ़क पड़ने की संभावना में ही आधिक्य होता है।

उबड़-खाबड़, कहीं गड्ढा, कहीं तीन-तीन फ़ीट उभरे हुए पत्थर, यहाँ कीचड़, वहाँ रपटन, इधर चीड़ के दरख्त की उठकर टेढ़ी-मेढ़ी जाती हुई फैली जड़ें, उधर और कुछ—लड़खड़ाते और सँभलते हुए हमारे घोड़े इन सबको पार करके आगे बढ़ते रहे और उन पर लदे हुए हम-अदद भी आगे आते रहे। सामने हमारे हिमाच्छादित उत्तुंग शैल, इधर पाताल में पहुँचती हुई घाटी, उधर सीधा जाता हुआ पहाड़, सँकड़ी-से-सँकड़ी राह, और इस सब के बाद हमारे मनों पर छाई हुई विषम आशंका—इन सबकी उपस्थिति में हम गठरी-बने हुए पदार्थ खेलनमर्ग और प्रभु की कृपा के निकट पहुँच रहे थे।

चढ़ाई समाप्त कर हम मैदान में आये। छोटी-छोटी घास है। हरे घास के रंग की, जो यहाँ-से-वहाँ तक फैली है। उनके बीच में खूब अतिशयता से उग-उठकर खिल-झूम रहे हैं। रंग-रंग के फूल—धानी साड़ी पर रंग-रंग की मानों ये बुंदियाँ हैं। और इसके पार वह एक ही फर्लांग पर उठ-कर आकाश में चढ़ा जा रहा है, वह बर्फ का स्तूप जो धूप के स्पर्श से उज्ज्वल होकर झकझका रहा है, और जिस पर दूर से आँख ठहरना मुश्किल है। बादल अभी आते हैं, और दो फुहार हँसकर अभी भाग जाते हैं। अभी चुपके से कहीं से आकर सूरज की आँख मूँद लेते हैं, और अभी छन में छोड़

से बादल उड़-उड़कर हमारे चारों ओर फैले हैं, हम को छू-छूकर भाग जाते हैं, और हमें आर्द्र-सा कर जाते हैं। वह उधर गाय चर रही है, चुँगकर मुँह ऊपर उठाती है, चारों ओर देखती है और संतोष की साँस लेती है—वह साँस नथनों से निकल कर भाप बना हुआ कैसा विलीन होता हुआ दीख पड़ता है।

यहाँ आकर हठात् हम प्रकृति के इस विराट् और मौन समारोह में तन्मय हो गये। चित्त की शंका हम पर से न जाने कब खिसक गई और भाग गई। चित्त खिलकर जाने किससे भर गया, कि और कुछ रहा ही नहीं, सब अपना-ही-अपना हो गया। ये घोड़ेवाले हमारे संबंध में किसी प्रकार के लेनदार हैं—चित्त में इस चेतना के लिये जैसे स्थान न रहा। वे उसके निकट अपने, भाई बन उठे।

अम्बुलकर ने कहा—देखो, वह बादल के पिल्लू! कैसे चिपटे जा रहे हैं!

हम हँस पड़े। मैंने कहा—पिल्लू नहीं, पिल्ले कहो। कैसे कुतिया के पिल्लों की तरह, गुल-गुले, मानों कुं-कुं-कुं-कुं करते-हुए, एक दूसरे में खोये जा रहे हैं!

अम्बुलकर ने कहा—नहीं जी, पिल्ले नहीं हैं, हमारे पिल्लू हैं। पिल्लू हैं, पिल्ले कैसे हो सकते हैं।

हमको मानना पड़ा, कि बादल के बच्चों को पिल्लू ही कहते हैं। ये छोटे-छोटे, होते तो सच, बड़े मेमने से हैं। अभी अच्छी तरह दीख रहे हैं, कि छन में जाने कहाँ ग़ायब!

हम शीघ्रता करके अपने-अपने घोड़ों पर से कूदकर किलकारी मारते हुए भाग चले। घोड़े झट उस हरित-कोमल घास से अपने भूखे मुख का अभिन्न संबंध स्थापित कर संतृप्त हुए।

हमने जी-तोड़ दौड़ लगाई। देखना था कि बरफ तक पहले कौन पहुँचता है।

लेकिन अम्बुलकर, अम्बुलकर है। सबसे आगे पहुँचकर बरफ पर पैर रखता है कि गला फाड़-कर किलकी मारता है—'महात्माजी!...'

पीछे-ही-पीछे हम थे। हमने कहा—'क्या हुआ?'

इतने में ही उसने दूसरी बार चिल्लाने को मौक़ा निकाल लिया—'महात्माजी!'

महात्माजी पीछे मज़े-मज़े में चले आ रहे थे। बोले—'अरे, क्या है?...'

अम्बुलकर ने उछलकर और चिल्लाकर कहा—'महात्माजी! जल्दी आइये, भाग के।...'

तब तक हम दोनों भी पहुँच गये थे। हमने उससे भी अधिक उछलकर इस माँग का समर्थन किया, कहा—'महात्माजी, भागकर आइये।'

महात्माजी आये और हमने उन्हें दिखाया—

तीन नये कोरे रुपये अचक-के-अचक बरफ के किनारे पर अलग-अलग चित्त ऐसे रक्खे थे, जैसे हमारी बाट ही जोहते हों।

महात्माजी ने कहा—'अच्छा!'

और हम उस बरफ के पहाड़ के साथ तरह-तरह की शरारत मचाने लगे।

• • •

दूसरी घटना यों हुई।

(५)

श्रावण में श्रीनगर से एक छड़ी की यात्रा उठती है। वह अमरनाथ जाती है। अमरनाथ एक तीर्थ-धाम है। उसका बड़ा माहात्म्य है।

एक ख़ासा मेला-का-मेला चलता है। राज्य की ओर से और समितियों की ओर से प्रबंध रहता है।

मेले में आधी संख्या साधुओं की रहती है, और आधे में शेष सब रहते हैं।

इस समय तक हम तीन ही रह गये थे। प्रेजुएट मित्र तार से रुपया मँगाकर बहुत पहले ही घर जा चुके थे। हम तीन एक महन्त की साधु-मंडली में मिलकर छड़ी के साथ उठ लिये।

छड़ी क्या वस्तु है, और साधु क्या पदार्थ हैं, इसके वर्णन और विवेचन का यहाँ अवकाश नहीं।

कश्मीर केशर के लिये मशहूर है। संघ के निर्धारित यात्रा-मार्ग से तनिक हटकर केशर की क्यारियों के लिए पामपुर होते हुए भी, यदि हम शीघ्रता करें, तो छड़ी को अनन्तनाग में पकड़ सकते हैं—यह हमने देखा। केशर की कृषि देखने की उत्कंठा थी ही। फिर पता चला, इधर ही एक गंधक का चश्मा भी है, और पास ही है एक ज्वालादेवी का मन्दिर। दोनों ही चीज़ें दर्शनीय हैं। गंधक के चश्मे में साफ़, स्वच्छ, निर्मल जल है; पर गंधक की बास से बसा हुआ। पास खड़ा होना कठिन है। और ज्वालादेवी का एक मंदिर है, जहाँ एक पहाड़ की चोटी पर एक गहरा छिद्र है। कभी-कभी वहाँ से ज्वाला की लपटें निकलती दीख पड़ी थीं। अब भी देवी ज्वाला के रूप में उसमें से प्रकट होकर दर्शन देती हैं, ऐसा प्रचलित विश्वास है। उसी पर मन्दिर का निर्माण हुआ था।

बड़े तड़के उठकर चश्मे में स्नान करते हुए हम नौ-दस बजे के लगभग ज्वाला-देवी पहुँच गये। स्नान अत्यंत सुरम्य है। पास ही घनी पर्वतमाला है, और मंदिर के चरणों में है—खिऊ नामक बस्ती। वनस्पति के वैभव के दर्शन के लिए इस स्थान को आदर्श समझिये। पास ही से गहन वन आरंभ हो जाता है, जहाँ जगह-जगह शिकारगाह बने हैं। वन में अच्छा शिकार मिलता है।

हम मन्दिर के बाहर आकर चारों ओर फैली प्रकृति की सुललित श्री की बहार लेते रहे। अम्बुलकर ने तान छेड़ी—ऐसे वातावरण में उसके स्वाभाविक मधुर कंठ में न जाने क्या, कुछ और वस्तु आ मिलती थी। तब उसका स्वर लहराता हुआ ओस की नाईं जी पर छाकर मानों आर्द्रता की हलकी-हलकी फुहार छोड़ने लगा। हम विभोर ही रहे।

किन्तु देर होते-होते हमें यह मालूम हो गया, कि इसी तरह से दिन नहीं बीत जायगा। पेट में भी कुछ डालना ही चाहिये। और इसके लिये इस स्वर्ग से उसे उतर कर नीचे धरती पर बसे गाँव में पहुँचकर कुछ चेष्टा भी करनी ही होगी।

नीचे उतर कर गाँव की कीच-भरी गली को पार करते-करते, मनाने लगे, कि कब किस भलेमानस की कृपा आप ही हमें ढूँढकर हम पर आ बरसे; पर यह होता न दीखा, और आज के लिये ठीक-ठिकाना बनाने के लिये हमने अम्बुलकर को नियुक्त किया।

आगे दो संभ्रांत सज्जन आते दिखलाई पड़े। हिचक से अम्बुलकर को सरोकार नहीं। आगे बढ़कर उसने कहा—महाराज, हम तीन मूर्ति हैं.....

आदमी इस साधुओं की पारिभाषिक शब्दावली के चक्कर में पड़कर मूर्ति बन जाते हैं, और इसी प्रकार के और क्या हेर-फेर हो जाते हैं—यह हमने काम चलाने लायक रूप में जान लिया था। और अब इसीलिये बाहर निकले थे कि कुछ सत्पात्र अतिथियों को पाये और इस शुभ योग पर कृतार्थ हो सकें। उन्होंने धन्य भाग माना। हमने भी कम अहोभाग्य नहीं माना। साथ-साथ चल दिये।

वह प्रसन्न हुए, जब उन्होंने पाया कि ये बेढंगे साधु बीच-बीच में अंग्रेज़ी के शब्द भी बोल जाते थे। वह सुशिक्षित परिवार था। घर पर हमारे पहुँचने के कुछ ही समय बाद कुटुम्ब के सब सदस्य हमारे आस-पास आगये। बच्चे, स्त्री, पुरुष, कन्याएँ—सब हमें अपने बीच में पाकर बेहद प्रसन्न मालूम हुए। बच्चों की प्रसन्नता, प्रसन्नता कदाचित् उतनी न हो, जितना कुतूहल और विस्मय हो—ये कौन उठाई गीरे से हैं, जिन्हें यहाँ बैठाकर उनके बड़े, उनसे तरह-तरह की बातें कर रहे हैं। और वे भी उसी तरह की बातें कर सकते हैं! और कैसा उनसे आदर का बर्ताव किया जा रहा है—इसलिये ज़रूर कोई बढ़िया बात ही है, और इसलिये उन्हें जरूर खुश ही होना चाहिये।

खाना खा-पीकर हमने देखा, कि हमें चलना चाहिये; किन्तु यह बात तो—उस घरवालों ने स्पष्ट जतला दिया—बिलकुल असंभव ही है। और महिलाओं ने भी कहा, कि ऐसा किसी प्रकार भी न हो सकेगा और हम लोग भी इस अपरिचित स्नेह और अनुग्रह से कोमल और कठिन आग्रह को तोड़ने की हठ अपने भीतर नहीं जगा सके। रात वहीं बितानी हुई।

रात वहाँ बिताने का मतलब अगले दिन पूरी पचीस मील की मंज़िल था। छड़ी को कहीं अनन्तनाग पाकर हम लोग पकड़ सकेंगे। और सामान से लदे हुए एक सौ पचीस मील चलना कुछ बहुत सुखद कार्य न था। रात यही सोचते-सोचते नींद ली और बहुत सबेरे उठ बैठे।

रास्ता हमारा अब सीधा न था। सड़क कहीं छूट गई थी। कोई दस मील चलने के बाद सड़क मिलेगी।

घर के कई लोग हमारे साथ-साथ कुछ दूर हमें विदा देने आये और बताया, कि एक मील तक सामने फैले हुए धान के खेतों को यों-और-यों पार करके वह जो बाग-सा दीखता है, उसके आगे अमुक गाँव आ जायगा; और वहाँ से फिर फलाँ गाँव की बटिया सीधी है ही, फेर नहीं है; और फिर पहाड़ी आयगी, उसके दाईं ओर की राह पर हम हो लें; फिर सामने वह गाँव है ही; फिर यह···और फिर वह, और आगे बस सड़क ही है। फिर सड़क तो सीधी ही है। और इस प्रकार ब्यौरेवार सूचनाएँ देकर हमारे चित्त का पूर्ण समाधान करके बड़े विनीत और कृतज्ञ भाव से उन्होंने विदा दी और कहा—अच्छा, नमस्कार।

अंगुलि-संकेत, मौखिक वर्णन और हार्दिक सद्भावना की सहायता से हमारे मार्ग का नक़शा जो उन्होंने विशद स्पष्ट-रूप से खींचकर हमें दे दिया था, वह चलते-चलते हमने पाया, हमारे निकट वैसा सुगम नहीं रहा। उस दिन सड़क तक के दस मील के रास्ते को कम-से-कम बारह मील तो हमने बनाकर ही छोड़ा।

चल रहे हैं, और चल रहे हैं, और चल रहे हैं। सड़क भी है कि आज आकर नहीं देगी। हम पास जाते हैं, तो वह दूर जाती है। आठ बज गये, नौ बज गये, दस बज गये; सूरज सिर पर तपने लगा, देह थक गई, भूख लग आई, जी भी हार-सा चला और, सड़क का अता-न-पता!

राम का नाम लो कि आख़िर सड़क आई ही। वहाँ आते ही हम एक चिनार के पेड़ की छाँह में तनिक दम लेने ठहर गये। और,—तीन मिनट बीती नहीं कि फिर चल पड़े।

ऊपर से गर्द, भीतर से पसीना आँख के सामने कहीं न अंत होनेवाली राह, और माथे पर चिल-चिलाती धूप—बस, हमारा बुरा हाल था।

चलते-चलते कोई बस्ती मिली। वहाँ एक सद्गृहस्थ के घर से मट्ठा पाया और पीया। दूसरी जगह से एक-एक गोले का टुकड़ा और गुड़ की एक-एक डली प्राप्त की। उसके ऊपर कुछ पानी पेट में पहुँचाया। और आगे बढ़े।

जो पेट में पहुँचा, वह कहाँ भस्म हो रहा, कुछ पता न चला। और पेट में से मानों लपटें निकल-निकलकर कुछ और भी सामग्री माँगने लगीं, जो पड़े और स्वाहा हो। अग्नि प्रज्ज्वलित है, यज्ञ का समय जाने कब का निकल चुका है; पर हवन की सामग्री कहाँ है? मानों कुंड की वह्नि की जिह्वाएँ निराश क्षोभ में लपक-लपककर तांडव करके पूछ रही हैं—सामग्री कहाँ है, कहाँ है?...

—और हम चलते जा रहे हैं। क्या सोचते हैं हम? कहाँ तक चलना है? क्या इसका अंत है? क्या इसका अंत नहीं है? क्या यह क्षुधा अनंत है, जैसे कि सामने सीधी जाती हुई राह अनंत है?

मैंने कहा—अवंतिपुर में महंतजी का बजरा हमें अवश्य मिल जायगा। कहा था—शनीचर को हम वहीं होंगे। तब हमें भोजन भी तैयार मिलेगा।

अम्बुलकर ने कहा—'हाँ, कहा तो था। हमारा इंतज़ाम भी ज़रूर करेंगे।'

इंतज़ाम से अम्बुलकर का तात्पर्य इंतजार से था।

महात्माजी हँसते हुए बोले—क्यों नहीं। वह इंतज़ार कर रहे हैं, तभी तो हम चल रहे हैं। उस इंतज़ार की आशा को लेकर ही तो हम चल पा रहे है,—क्यों?

किन्तु, हम क्या जानते थे और महात्माजी क्या जानते थे, कि महंत नहीं, उससे कहीं बड़ी और अपूर्व वस्तु वहाँ अवंतिपुर में हमारा इंतज़ार कर रही थी। हम पहुँचे कि वह वहाँ घटित होगी।

आँख खोल देनेवाले दिव्य प्रकाश की भाँति वह वहाँ हमको लेकर संपन्न हो उठेगी।

महात्माजी की बात सुनकर हम अपनी धधकती भूख को भीतर-ही-भीतर लिये रहकर वीर की भाँति आगे बढ़ते रहे।

अनंतनाग से लगभग छः मील इधर अवंतिपुर है। सूरज पच्छिम की ओर ढला आ रहा था। तीन बजते होंगे। कमर से दो लोइयाँ और कुछ और सामान लपेटे, पसीने से तर-बतर और साँस से उफनते हुए हम अवंतिपुर में प्रविष्ट हुए। बस्ती का पहला मकान आया, हमने चैन की साँस ली। कोई मिला, पूछा—'मंदिर कहा है?'

'आगे'

आगे बढ़े। फिर पूछा—'मंदिर कहाँ है?'

'वह आगे'

हम आगे बढ़ते रहे, और मन्दिर भी हमारे आगे-आगे बढ़ता रहा। पौन मील तो कम-से-कम और चले, सारी बस्ती पार की, और तब आया मन्दिर।

मन्दिर आया। शोभनीय स्थान है। प्राचीन पद्धति का शाही द्वार है। भीतर बगीचा भी है। मन्दिर के जीने के चरणों को पखारती हुई वितस्ता बहती है। गुल्म हैं, चिनार के सघन वृक्ष छाये है—कुछ हो, यहाँ हम विश्राम पायेंगे, और महन्त यहाँ मिले, तो फिर वाह!—और महंत न मिले तो...?

हम पहले से बहुत कुछ हलके मन से भीतर प्रविष्ट हुए। जो साधु पहले मिला उससे पूछा—'श्रीचंद-चिनार के महंत हैं या गये?'—और अपने झोले-बोले उतार कर बैठने की तैयारी करने लगे।

उस साधु ने कहा—'वह तो कभी के चले गये यहाँ से। अनन्त नाग पहुँच भी चुके होंगे।'

हमने हठात् कहा—'गये?'

'हाँ, गये, गये!'

और उसी समय पास ही से सुन पड़ा—'महाराज, पधारिये।'

हमने देखा, कि अधेड़ वयस के एक ब्राह्मण पुरुष खड़े है और करबद्ध कृतज्ञ भाव से कह रहे हैं—'महाराज, पधारिये।'

हमने पूछा—'कहाँ?'

'महाराज, भोजन पाने पधारिये।'

उस समय हम अत्यंत निश्चिंत होकर आनंदमग्न हो गये। धीरे-धीरे सामान उतारा, सुलाये, हँसे, टहले, बैठे, लेटे, और नीचे आई उस चिनार की डाल की छाया में वितस्ता की धारा में स्नान कर डालने की ठहराने लगे। सोचा, पसीने से भीगे कपड़ों को चलो लगे हाथ धो भी डालें।

हँस-खेल-कूदकर और तैरकर मज़े-मज़े में हम नहाये। मज़े-मज़े में कपड़े धोये—और वह सज्जन उसी प्रकार विनम्र हमें अवकाश मिलने की प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहे।

निबटकर हम उनके साथ हो लिये। वह चुप-चुप हमारे साथ चले। मानों धन्य और कृतज्ञ भाव से पानी-पानी होकर बह न जायँ, इस तरह अपने आप में बन्द होकर सूक्ष्म होते हुए वह चल रहे थे।

मकान साधारण था और घर में एक माँ थीं और पत्नी थीं। माँ बरसों से नेत्रहीना हो गई थीं और पत्नी के कोई बाल-बच्चा न था। माँ को एक शिशु की आवश्यकता थी, जिसके कोमल गात को छू-छूकर और जिसके साथ मचलकर और हँसकर वह अपने जराच्छादित एकाकीपन की याद से कुछ क्षण छुट्टी पालें। जिसको पाकर यह अपनी आँख पालें, अपने जीवन का आधार, अपने भीतर का प्राण पालें। पत्नी को भी एक बालक की बेहद चाह थी, जो किशन-कन्हाई बनकर इस घर के छोटे-से आँगन में कुछ ऊधम मचाये, कुछ तोड़-फोड़ करे; नहीं तो यह आँगन साफ़, शांत, सुव्यथित, सुन्न और सदा एक-जैसा ऐसा पड़ा रहता है, जाने बेजान हो, मुर्दा हो, भूत हो—चुप-चाप सांस रोक-कर, जैसे कोई भयंकर प्राणी पड़ा हो, जो अब काटेगा, अब काटेगा।

हमको एक चटाई पर बैठाकर झटपट करके तीन थालियाँ हमारे सामने रख दी गईं।

सज्जन ने धीरे से कहा—'पंखा कर, पंखा कर।'

पत्नी को भोजन की व्यवस्था की सम्भाल में से छुट्टी मिलने में कुछ क्षण लगा ही जाते थे। इन्हीं क्षणों में माँ ने बिना देखे ही कहीं-न-कहीं से पंखा खींच लिया और झलने लगीं।

हम ने कहा—'नहीं-नहीं.....!'

किन्तु कश्मीर में गर्मी नहीं होती, इसका यह अर्थ नहीं है, कि माँ पंखा करना छोड़ दें। यह तो गर्मी का पंखा नहीं था, हृदय का पंखा था। हवा की जगह उससे स्नेह लहराया जा रहा था।

माँ इस स्नेह की डोर में बँधी हमारे पास ही सरकती आईं। महात्माजी उस ओर के किनारे पर बैठे थे। माँ ने उनके सिर पर अपना आशीर्वाद का हाथ रक्खा। वह हाथ फिर सिर पर टहलता हुआ और टटोलता हुआ गर्दन पर आया, और फिर महात्माजी की निर्वस्त्र कमर को सुहलाने लगा। महात्माजी की नंगी पीठ पर अपना हाथ फेरते-फेरते उनकी आँखों से आँसू आ-आकर टपकने लगे। वह पंखा झलती रहीं, रोती रहीं, और इसी प्रकार अपना दाहना सूखा हाथ महात्माजी के सिर के बड़े-बड़े बालों पर, दाढ़ी पर, मुंह पर, कमर पर फेरती रहीं।

उस समय हमारी आत्मा भींज उठी, और हमारी आँखें भी भींज आईं।

हमारा अंतर स्नेह से खूब भिगो दिया गया, और हम भोजन के बाद कुछ इधर-उधर की और पवित्र बातचीत करके चले आये।

—और, हमें पता चला, कि पिछले वर्ष, इस परिवार के प्रत्येक आत्मा की विविध मनौतियों, संचित आकांक्षाओं, और विपुल व्यय के उत्तर में, किसी व्यक्ति ने दक्षिणा-दान-यज्ञादि के पर्याप्त आडंबर के बाद इन्हें बताया था, कि अमुक शुभ लग्न के अवसर पर वे दूर से चले आते हुए तीन साधुओं को आहारदान देंगे, तो उन्हें वरदान प्राप्त होगा और उनकी पुत्र-कामना की सिद्धि अवश्यंभावी है।

सालभर से उसी दिन की आस बाँधे वह सज्जन बैठे थे। वह दिन आया, प्रभात से वह मंदिर पर आ रहे—अब तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! सबेरे से निराहार, अपने भाग्य के अंतिम परीक्षा-फल की प्रतीक्षा में। सूरज निकला, सूरज चढ़ा; साधू आये, साधू गये —वह खड़े हैं—अब तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! घंटे-पर-घंटे गिनती की तरह बजते चले गये। मंदिर भर गया, और मंदिर ख़ाली हो गया। बग़ीचा कलरव से गूँजा, और अब सन्नाटा है—वे तीन साधु आते हैं, अब आते हैं!

—और, तीन बजे हम तीन साधु पहुँचे.....

(७१ वें पृष्ठ का शेषांश)

पहले 'प्रताप' में निकला। अंग्रेज़ी प्रेस अपने को पत्रकार-कला में हिन्दी प्रेस से कुछ बढ़ा हुआ समझता है। है भी बढ़ा हुआ; पर ब्रेल्सफोर्ड के सम्बन्ध में हिन्दी प्रेस भारतीय में अंग्रेज़ी प्रेस से बाज़ी मार ले गया। उनकी यात्रा का गाँव-सम्बन्धी उन्हीं का लिखा लेख सबसे पहले 'प्रताप' में निकला। बाद को मैंने उसकी एक-एक प्रति 'लीडर' और 'हिन्दुस्तान-टाइम्स' को भेजी। 'प्रताप' के दो-एक लेखों की कई हिन्दी-पत्रों ने चोरी भी की।

उसके बाद मैंने ब्रेल्सफ़ोर्ड के साथ पंजाब के गाँवों का भी भ्रमण किया। मि० ब्रेल्सफ़ोर्ड अब मेरे घनिष्ट मित्रों में से हैं। मैं इसी में सन्तुष्ट हूँ कि कांग्रेस या किसी दल का सदस्य न होते हुए भी मैं साधारण-सी सेवा कर सका। ग़रीबों की आह को दूर तक पहुँचा सका। फल? प्रत्यक्ष फल कुछ न हो, साफ़लेपु कदाचन; पर विश्व की प्रत्येक प्रगति, प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक विचार का कुछ फल होता ही है।

ब्रेल्सफोर्ड से मैं कैसे मिला

लेखक—श्रीयुत पं० श्रीराम शर्मा बी० ए०

अनेक मित्र मुझसे पूछते हैं, कि मैं मि० एच० एन० ब्रेल्सफोर्डसे क्यों और कैसे मिला। मैंने उन्हें कौन-सी बूटी सुँघा दी, कि जिसके वशीभूत हो, इङ्गलैण्ड के प्रभावशाली पत्रकार तथा स्वतंत्र मज़दूर-दल के नेता मेरी कुटिया पर आकर ठहरे। क्या मेरा उनसे कोई पूर्व-परिचय था अथवा, बारडोली की भाँति, मेरे गाँव के निकट कांग्रेस-नौकरशाही-युद्ध का कोई मोर्चा पड़ा था, जिसके निरीक्षण के लिए अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के प्रमुख समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि होकर आये हुए मि० ब्रेल्सफोर्ड मेरे गाँव को आये। मैंने मि० ब्रेल्सफ़ोर्ड का नाम सुन रखा था। उनके कुछ लेख भी पढ़ रखे थे। उनकी दो-एक किताबें भी पढ़ी थीं। और उनकी कलम का भी मैं क़ायल था; पर उनसे न तो मेरा कोई पूर्व-परिचय था और न मेरे गाँव के समीप राष्ट्रीय लड़ाई का कोई विशेष मोर्चा ही था। ऐसी दशा में मि० ब्रेल्सफ़ोर्ड-जैसे व्यस्त पत्रकार का मेरे यहाँ आना ही नहीं, वरन ठहरना और ठहरकर भारतीय-ग्रामीण-जीवन तथा राष्ट्रीय समस्या का गूढ़ अध्ययन करना कुछ मानी रखता है। मेरे एक पत्रकार मित्र के शब्दों में मेरा उनको गाँव में लाना मेरे पत्रकार-जीवन की एक विशेष घटना (Journalistic feat) है। हो। शायद है। आत्म-श्लाघा अथवा आत्मप्रशंसा के ख़याल से नहीं, वरन एक तुच्छ पत्रकार की हैसियत से—वह भी विनम्र भाव से—मैं यह समझता हूँ कि मेरे पत्रकार-जीवन की दो एक और घटनाएँ भी इसी कोटि में आ सकती हैं। पर मि० ब्रेल्सफोर्ड का मेरे यहाँ आना और उनका नीर-क्षीर-विवेचन ऐसे हैं, मानों शत्रुदल के एक अचूक गोलंदाज़ को अपनी ओर करके अपने शत्रु के क़िले पर गोलाबारी कराना और इसलिए वह बड़े महत्व का है।

• • •

गत सितम्बर सन् १९३० में संसार का ध्यान बम्बई और गुजरात की ओर लगा हुआ था। नौकरशाही और कांग्रेस से घनघोर युद्ध छिड़ा हुआ था। बम्बई के आज़ाद मैदान में पशुता का ताण्डव नृत्य हो रहा था; युद्ध था। पर गोले नहीं बरस रहे थे और न तोपें गरज रही थीं; वरन गोलों और तोपों की मार से अधिक कष्टदायक लाठियाँ बरस रही थीं। सार्जेंट और हिन्दुस्तानी पुलिस एक गोरे के नेतृत्व में निहत्थों पर अंधाधुंध लाठियाँ चला रहे थे। किसी की हड्डी टूटती थी, तो किसी के खोपड़ी से खून का फौहारा छूटता था और कोई चोट खाकर लड़खड़ा कर गिर रहा था। यह सब-कुछ था; पर कांग्रेस-वालंटियर पीछे न हटते थे और न उनकी मुखाकृति से बचने की भावना या हिंसा-सूचक चिह्न दृष्टिगोचर होते थे। वे तो आदर्श पर मर मिटनेवाले थे। उस दल में विशाल काय सिक्ख भी थे। केश-स्पर्श और पिटने के अपमान को वे 'गाँधी दे हुक्म' के कारण प्रसन्न बदन सह रहे थे। यदि वे चाहते, तो वैसी लड़ाई में, व्यक्तिगत रूप से, एक-एक सिक्ख दो-दो सार्जेन्टों का कचूमर निकाल देते; पर वे तो अहिंसा के व्रती थे। गुरुगोविन्दसिंह के तैयार किये हुए बाज़ कबूतर का-सा व्यवहार कर रहे थे, मानो वे ईसाई गोरों को प्रभु—ईसा—के उपदेश की शिक्षा दे रहे हों।

और दूसरी ओर बग़ल में कांग्रेस की एम्बुलेंस मोटर खड़ी थी, जिसमें स्ट्रेचर पर उठाकर आहत वीरों को रखा जा रहा था। उस आर्डीनेंस-युग में, नौकरशाही के तर्कश से चलाये गये सम्पूर्ण विवाक्त कानून-तीरों की सनसनाहट में कोई समाचार भी उचित समय पर न मिलता था और फिर बम्बई के

समाचारों के लिये 'बाम्बे क्रॉनिकल' और 'इंडियन डेली मेल' के लिए तबीयत फड़-फड़ाया करती। एक दिन आगरा में मुझे अपने एक सम्मानित मित्र के यहाँ 'बाम्बे क्रॉनिकल' की एक प्रति पढ़ने को मिली। उसमें एक लेख बम्बई के लाठी-आक्रमण पर था और उस लेख के लेखक थे मि० एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड। 'बाम्बे क्रानिकल' ने वह लेख किसी इङ्गलैण्ड के पत्र से उद्धृत किया था। लेख क्या था, मानों लेखक ने उसे अपने हृदय के खून से लिखा हो। लेख में कवि-हृदय की उड़ान न थी और उसमें अकाट्य दलीलों से सुरक्षित हृदय-भावनाओं का चित्र था। मि० ब्रेल्सफोर्ड के लेख का सार था, कि क्या स्वतन्त्रता के पुजारी अँग्रेज ऐसे अमानुषिक अत्याचार कर सकते हैं। क्या ब्रिटिश साम्राज्य में ऐसी घटना घटी जाती हैं कि निहत्थों और शान्त व्यक्तियों पर लाठियाँ चला दी जावें? यह बात भले आदमियों की समझ में नहीं आती; इसलिए मैं स्वयम् भारतीय परिस्थिति को देखने जा रहा हूँ।

इस लेख के पढ़ने के कुछ पूर्व या कुछ उपरान्त मि० अलेकजैण्डर होरेस ने गान्धी-इरविन-समझौते के लिए प्रयत्न किया और वह अपने प्रयास में विफल हुए। श्री सप्रू और जयकर उनसे पहले ही समझौता कराने में असफल हो चुके थे। होरेस साहब का प्रयास टिटिहरी का-सा प्रयास था; पर उन्होंने विफल होकर दो एक बातें बड़ी मारके की कहीं—मुझे तो मार्के की ही प्रतीत हुई थीं—एक तो यह कि कांग्रेस को विचित्र लड़ाई को तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक कि नौकरशाही झुके नहीं। जीत कांग्रेस की होगी। दूसरी बात उन्होंने कही—'प्रधान मंत्री के मित्र तथा अति प्रभावशाली पत्रकार मि० ब्रेल्सफोर्ड आ रहे हैं। यह बड़ी अच्छी बात है। वह स्वयं आकर स्थिति को देखेंगे और उनकी बात का बड़ा ख़याल किया जावेगा।'

मि० ब्रेल्सफोर्ड के लेख और अलेकजैण्डर साहब की बात से मैंने सोचा कि क्या यह सम्भव हो सकेगा कि मैं मि० ब्रेल्सफोर्ड को भारतीय ग़रीबी का नग्न रूप दिखा सकूँ, ताकि वे यह जान सकें कि कांग्रेस-आन्दोलन का मूल कारण क्या है? भारतवर्ष की आत्मा ग्रामीण जीवन में है और गाँवों में भयंकर गरीबी के कीटाणु फैल गये हैं और जब तक इन कीटाणुओं का अन्त न होगा, तब तक देश की स्थिति सुधर नहीं सकता। प्रलयंकारी भावी किसान आन्दोलन में ज़मींदारी और नौकरशाही की शक्ति ठहर नहीं सकती। परमात्मा करे श्रेणी-युद्ध की अग्नि को हमें पार न करना पड़े। मेरे ये विचार बड़े पुराने हैं और मैं चाहता था कि किसी प्रकार करोड़ों किसानों की आह इंगलैण्ड तक पहुँचे और पहुँचे ब्रेल्सफोर्ड-जैसे विचारशील कार्य-द्वारा। पर ब्रेल्सफोर्ड से पहले तो मिलना ही कठिन था और फिर १०-१५ मिनट मिल भी लिया, तो मुझ-जैसे साधारण व्यक्ति की बात का वज़न ही क्या होगा! हाँ, प्रत्यक्ष में स्थिति दिखाकर और फिर सरकारी अंक-विवरण से उसकी पुष्टि करने से कुछ लाभ हो सकता था। मि० ब्रेल्सफोर्ड को परिस्थिति की निष्पक्षता और विश्लेषण-शैली के विषय में कुछ सुन रखा था; इसलिए यदि किसी प्रकार उनको भारतीय-स्थिति समझाने में मैं सफल हो सका, तो बड़ा काम होगा—यह ख़याल दिमाग़ में चक्कर काटने लगा; पर उन तक पहुँच कैसे हो! कैसे पत्र लिखूँ? बम्बई जा सकता था और वहाँ जाकर उनको गाँव आने का निमन्त्रण दे सकता था; पर ऐसा करना भी मैंने उचित न समझा। मेरी धारणा है, कि पत्रकार को यदि किसी से मिलना हो, तो असफलता का ख़याल छोड़, मुलाकात करने की धुन में लगा रहना चाहिए। भेंट (Interview) करना या देना पत्रकार-कला का एक मुख्य अंग है। यह भी एक कला है। कभी-कभी तो किसी व्यक्ति से बातें करना ऐसा है, मानो सँपेरे का साँप को खिलाना। बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। उस अमीर से, जो कौड़ी को दाँत से उठाता है, सार्वजनिक कार्य के लिये कुछ समय लेना बड़ा कौशल का काम है। इसी प्रकार उस आदमी से जो एक मिनट भी नष्ट नहीं करना चाहता, कुछ घण्टे—दिनों की बात तो दूर है—लेना पड़ता की बात है। हम लोगों—हिन्दी-पत्रकारों—में भेंट (Interview) न लेने की बड़ी कमी है। सम्पादकीय नोट लिखना और समाचारों और लेखों का सम्पादन करना ही पत्रकार का काम नहीं है। मेरी तुच्छ दृष्टि से यह तो साधारण—अति साधारण—

काम है, जिसको कोई भी साधारण बुद्धि का आदमी कर सकता है। हिन्दी के पत्रकारों में ऐसे इने-गिने ही व्यक्ति होंगे, जो इस कला में प्रवीण हों। हिन्दी-पत्रकारों में इस समय, मेरे ख़याल से, पत्रकार-कला के इस अंग की लाज पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी रखे हुए हैं।

हाँ, तो मैंने सोच-समझकर एक पत्र मि० ब्रेल्सफोर्ड को लिखा। उसमें मैंने आग्रह किया था—मि० ब्रेल्सफोर्ड, केवल बड़े-बड़े नगरों को ही न देखें। वास्तविक भारतवर्ष तो गाँवों में है। बिना गाँवों के देखे आप भारत की ग़रीब और विदेशी शासन के कुफल का अन्दाज़ा नहीं लगा सकते; यदि आपको राक्षसी ग़रीबी, निरक्षरता और लोगों की असहायता और नौकरशाही की निरंकुशता को देखना है, तो शहर के भोजों से दूर रहकर गावों को अवश्य देखिये। मेरी सहती इच्छा है कि मैं आपको ग्रामीण-जीवन दिखा सकूँ। विश्वास कीजिये किसानों की करुणापूर्ण तथा दयनीय दशा से आप तिलमिला जावेंगे। मैं स्वयम् किसान हूँ। अपने हाथ से खेती भी कर सकता हूँ, कुछ करता भी हूँ। किसानों में ही रहता हूँ। पुलिस और ज़मींदार के अत्याचारों को मैंने भुगता है। मैं किसी दल-बन्दी से कारण आपको नहीं बुलाता। इकतरफा डिक्री देना मेरा काम नहीं है, पत्रकार की हैसियत से मैं अतिशयोक्ति का विरोधी हूँ; पर सच बात कहने में हमें ईश्वर से भी नहीं डरना चाहिए। मेरे उस पत्र का यह सार था। अब प्रश्न यह था, कि बम्बई में किस पते से डाला जावे। मुझे यह भी मालूम नहीं था कि मि० ब्रेल्सफोर्ड किसी जहाज से आ रहे थे। हाँ, इतना अंदाज था कि ४—५ दिन में वह बम्बई उतरने वाले हैं। यह भी कुछ पता न था कि वह बम्बई में कितने दिन ठहरेंगे। ऐसी दशा में मैंने उस पत्र की ८—१० प्रतियाँ टाइप कराईं और मि० ब्रेल्सफोर्ड के नाम (१) पोस्टमास्टर बम्बई (२) सम्पादक बाम्बे क्रॉनिकल (३) सम्पादक 'इण्डियन डेली मेल' (४) टाम सकुक कम्पनी बम्बई (५) ताजमहल होटल (६) ग्राण्ड होटल के मारफत और दो इसी प्रकार और पतों से पत्र भेजे। प्रत्येक के नाम जवाबी कार्ड भेजा। जिसमें मैंने प्रार्थना की कि जहाँ मि० ब्रेल्सफोर्ड हों, वहाँ सायवाला लिफ़ाफ़ा भेज दिया जावे और कार्ड से मुझे उनका पता भी लिख दिया जावे। मि० ब्रेल्सफोर्ड वाले लिफ़ाफ़ों में मैंने उनका पता लिखा और स्टाम्प लगा ख़ाली लिफ़ाफ़ा भी रख दिया था। ऐसी दशा में प्रत्येक भला आदमी उत्तर देने को तो बाध्य हो ही जाता है। इतने पतों से पत्र इसलिए भेजे कि कोई-न-कोई पत्र तो उन्हें मिलेगा ही। लोगों के लिए जवाबी कार्ड का उत्तर देना, तो साधारण बात थी। कोई-न-कोई गोली तो निशाने पर पड़ेगी। मुझे तो पहले उनका पता चलाना था। मिलने और आने की बात तो बाद की थी।

एक सप्ताह की प्रतीक्षा के उपरान्त बम्बई से मि० ब्रेल्सफोर्ड का एक कार्ड आया। जिसमें साधारण शिष्टाचार के अनुसार मेरे निमंत्रण पर मुझे धन्यवाद मिला; पर निमंत्रण अस्वीकृत रहा। कार्ड में बस ४-५ पंक्तियाँ हो थीं। कार्ड पाकर मुझे निराशा हो गयी; क्योंकि मि० ब्रेल्सफोर्ड ने एक दम दुलत्ती-सी फटकार दी। पास तक नहीं फटकने दिया; पर मुझे उनका पता तो मालूम हो गया। यह कौन कम बात थी।

मैंने उनको फिर पत्र लिखा और अपने प्रस्ताव की पुष्टि में बहुत-सी बातें लिखीं और पत्र भेज दिया। स्टाम्प लगा और पता लिखा। लिफ़ाफ़ा तो प्रत्येक पत्र में देता रहा, ताकि मि० ब्रेल्सफोर्ड को उत्तर देने को बाध्य-सा होना पड़े। उत्तर आया और उन्होंने मुझे आश्वासन दिलाया, कि वे गुजरात के गाँवों को अवश्य देखेंगे; क्योंकि कांग्रेस का प्रभाव गुजरात के गाँवों में ही अधिक था। इस उत्तर से तो मानों मेरी आशा पर पानी ही फिर गया; पर मैं भी सहज में हार माननेवाला न था। मैंने फिर लिख भेजा, कि गुजरात के गाँवों से आप भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के गाँवों का हाल नहीं जान सकते। उत्तर में मि० ब्रेल्सफोर्ड का कार्ड आया, कि मैं जानता हूँ कि उत्तरी भारत के गाँव गुजरात के गाँवों की अपेक्षा बहुत ग़रीब हैं। युकप्रान्त मेरी यात्रा के प्रोग्राम में नहीं है। हाँ, मेरा विचार पंजाब में कौलौनी के (Colony) के गाँवों को देखने का है।'

इस उत्तर को पाकर भी मैं हतोत्साह नहीं हुआ ; वरन मैंने इस आशय का एक पत्र लिख भेजा, कि गुजरात ने हमें गान्धी दिये हैं और उस प्रान्त के गाँवों को आप देख रहे हैं, तब फिर दो नेहरूओं (स्वर्गीय श्री पं० मोतीलाल नेहरू और श्री जवाहरलाल नेहरू) के देनेवाले प्रान्त को आप कैसे छोड़ सकते हैं। विश्वास कीजिये, युक्तप्रान्त की परिस्थिति ऐसी भयंकर है और ज़िमींदारी-प्रथा के कारण वह परिस्थिति इतनी विषम हो गयी है, कि शीघ्र ही युद्धक्षेत्र गुजरात से बदल कर युक्त प्रान्त में होगा। यदि मैं आज किसानों के लिए कोई काम प्रारम्भ कर दूँ, तो १०-१२ वर्ष बाद आप ही मुझसे मिलने के इच्छुक होंगे। विश्वास कीजिये, मुझे अपना निजी स्वार्थ कुछ नहीं। मैं तो संकीर्ण राष्ट्रीयता का विरोधी हूँ। Britania Rules the waves साम्राज्य-वाद की जड़ है। मुझे आश्चर्य है, कि आप ४-५ घण्टा नहीं निकाल सकते। समझ लीजिये कि इस कारागार-युग में इतनी देर के लिए आप भी कैद हो गये। रोज़ाना इतनी दूर कोई नहीं आता। मेरे गाँव से कुछ नहीं ; पर आप युक्तप्रान्त के गाँवों को जरूर देखिये।

इसके उपरान्त मैंने ४—५ जवाबी तार भी उनको दिये और एक पत्र में मैंने उनको ई० आई० आर० टाइमटेबिल से ई० आई० आर० का नक्शा फाड़कर रख दिया और दिल्ली, टूँडला और मक्खनपुर पर क्रास चिह्न लगा दिये और पत्र में लिख दिया कि यदि आपको दिल्ली से कलकत्ता जाना है, तो आप मेरे गाँव के पास होकर निकलेंगे। दिल्ली से आप पंजाब मेल से कलकत्ता के लिये चलें। टूँडला पर प्रातःकाल ७॥ बजे दिल्ली से चलकर ३॥ घण्टे के उपरान्त आपको मोटर तैयार मिलेगी और उसी दिन आप सायंकाल को ८ डाउन (तूफान) से कलकत्ता को चले जाइये। मैं आपसे दिल्ली आ मिलूँगा अथवा लिखिये कि आप दिल्ली कब पहुँचेंगे, तो आपसे दिल्ली मिलूँ और मिलकर गाँव आने का प्रोग्राम बनाऊँ।

शायद सूरत से मि० ब्रेल्सफोर्ड का तार आया कि दिल्ली में मिलो। दिल्ली से मैं मिलने के समय की सूचना दूँगा।

उपर्युक्त तार पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, मानों कोई रुठा देवता मान गया हो। आशा और निराशा के भँवर में मैं कई दिन पड़ा रहा। मैं यह निश्चय नहीं कर पाया, कि भेंट के उपरान्त मि० ब्रेल्सफोर्ड मेरे साथ आने को तैयार भी होंगे ; पर तो भी मैंने उनके लाने के लिए आगरा से एक मित्र की मोटर माँग ली और खेत में एक छोटे तम्बू का प्रबन्ध कर लिया। जाड़े के दिन थे ; इसलिये कोई कठिनाई रात के लिये नहीं थी। यह तो ख़याल ही न था कि मि० ब्रेल्सफोर्ड रात में भी मेरे यहाँ रहेंगे।

•

•

नवम्बर की दूसरी या तीसरी तारीख़ को मुझे तार मिला—

'कल सायंकाल के ३॥ बजे मैडिस होटल दिल्ली में मिलो।'

ब्रेल्सफोर्ड।

अब मेरे सामने प्रश्न था कि मैं किस प्रकार मि० ब्रेल्सफोर्ड से वार्तालाप करूँ। नमक-मिर्च मिलाकर बातें करना मेरे स्वभाव के विपरीत है। और, साथ ही प्रत्येक पत्रकार को विषय-अनुपात, सत्यता और स्पष्ट वचन को ही अपना माध्यम बनाना चाहिए ; पर वार्तालाप में शिष्टाचार, दूसरे के विचारों का ख़याल रखना, बहुत लाज़िमी है। दो-टूक बात तो ठीक होती है ; पर लट्ठमार बात श्रेयस्कर नहीं। जिससे भेंट करनी हो, उसके मनोविज्ञान को जानने से बड़ा काम चलता है। गाय को दुहने से पूर्व जैसे पसुराना पड़ता है, उसी प्रकार किसी बड़े व्यक्ति से भेंट करनी हो, तो उसको अपनी वाणी और वार्तालाप के ढंग से रिझा-सा लेना चाहिए। भेंट करने और भेंट देने में महात्मा गान्धी-जैसा पटु शायद ही कोई हो। जोंक की भाँति पत्रकार उनसे चिपटे रहते हैं और प्रश्नों की झड़ी लगी रहने पर भी, महात्माजी की इच्छा स्पष्ट बात कहने की नहीं होती, तो पटेबाज़ की भाँति अपने शब्दों से पैंतरा बदलते हैं। उन तिलों से तेल निकालना फिर कठिन हो जाता है। मैंने

बीसियों बार अमेरिकन, डेनिश और जर्मन लोगों से भेंट की है और कई प्रतिष्ठित अमेरिकन क्वेकर्स (Quakers) को गाँव लाया हूँ—बस तनिक वार्तालाप-कौशल से।

तार पाकर मैं आगरा होकर दिल्ली जाने को चल पड़ा। आगरा पहुँचा, तो अपने सम्मानित मित्र की व्यथा देखकर मैं ब्रेल्सफोर्ड को भूल गया। मैंने उनकी मोटर माँग रखी थी। बिना दिखावट के न मालूम वह कितनों का भला करते हैं ; पर उनके जवान भतीजे का देहावसान हो गया। उनपर इस अनभ्र वज्रपात से मैं भी विचार-शून्य हो गया ; पर रात को बहुत कहने-सुनने से मैं दिल्ली को चला गया।

• • •

अगले दिन तीन बजे शाम को मैं मैडिन्स होटल के बरामदे में टहल रहा था। साढ़े तीन बज गये ; पर मि० ब्रेल्सफोर्ड नहीं आये। पूछने से मालूम हुआ, कि वायसराय ने उन्हें लंच के लिए आमंत्रित किया है।

३—४५ पर एक मोटर आई। नाटे क़दका एक अंग्रेज़ उतरा। उसकी आकृति मि० ब्रेल्सफ़ोर्ड के चित्र से मिलती थी। आगे बढ़कर मैंने अभिवादन किया। १५ मिनट की देरी के लिए क्षमा माँगकर मि० ब्रेल्सफोर्ड ने चाय के लिए आज्ञा दी और हमारी बातें होने लगीं। पहले मैं ही बोला—मि० ब्रेल्सफोर्ड, आपने भारत के सर्व श्रेष्ठ किसान गुजरात में देखे हैं। अब तनिक उत्तरी भारत के किसानों की निकृष्ट ग़रीबी पर भी दृष्टि डालिये (You have seen the Cream of Indian peasantry in Gujarat, Now please have a look at the Stinking Filth of the poverty of the peasantry of Northern India)

उनकी आकृति से मुझे मालूम हुआ, कि मेरी बात का कुछ प्रभाव हुआ है।

ब्रेल्सफोर्ड—तो यू० पी० लगानबन्दी आन्दोलन की क्या स्थिति है ?

मैं—अभी तो कहीं प्रारम्भ नहीं हुआ ; पर ज्वालामुखी भीतर-ही-भीतर धधक रहा है और कांग्रेस आदेश दे या न दे। यह आन्दोलन उठेगा ज़रूर। सन् ३० में न सही, तो ३१ में और ३१ में न होगा, तो ३२-३३ में। जब तक यह मन्दी है, किसान लगान दे ही नहीं सकता। अपने पशु बेचकर भी वह भुगतान नहीं कर सकता।

ब्रे०—तो यह आर्थिक प्रश्न है—राजनैतिक नहीं ?

मैं—आर्थिक प्रश्न राजनैतिक रूप में परिवर्तित हो गया है।

तब ज़मींदारी प्रथा पर बातें हुईं। ज़मींदारी प्रथा के उपरान्त खेती की फ़सल, खाद, खाद में प्रति सैकड़ा नाइट्रोजन और अन्य राजनैतिक विषयों पर विचार परिवर्तन होता रहा और तब कहीं जाकर मि० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा—'अच्छा मैं आपके साथ ग्रामीण जीवन देखने चलूँगा। वहाँ मैं ठहरूँगा भी और कई गाँवों को देखूँगा।

• • •

मि० ब्रेल्सफोर्ड गाँव आये और कमोड के प्रबन्ध के लिए मुझे बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। वह दो दिन गाँव में रहे और उस समय में सोने का समय छोड़कर—उन्होंने भारतीय ग्रामों की समस्या को राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और अन्य दृष्टि से अध्ययन किया।

• • •

मेरे यहाँ आने को वह अनुभव-स्वरूप अपनी भारतीय-यात्रा का सबसे बड़ा अनुभव Greatest impression कहते थे। अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्राँस और जर्मनी के समाचार-पत्रों में उन्होंने भारतीय समस्या को बड़े स्पष्ट रूप से लिखा है। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे उनकी बनायी 'रिबेल इन्डिया'—(Rebel India) को अवश्य पढ़ें। भारतीय समस्या को उन्होंने अनेक भारतीय नेताओं से अधिक समझा है। दूर भविष्य का उनका अनुमान भी ग़ज़ब का है।

• • •

मुझे केवल एक बात की प्रसन्नता है, वह यह कि मि० ब्रेल्सफोर्ड के विषय में विस्तृत वर्णन

(शेषांश ६६ वें पृष्ठ के नीचे)

मेरा वह बाल्य-काल....

लेखक—श्रीयुत प० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

बात बहुत पुरानी है। उस समय मेरी वयस ९, १० वर्ष की थी। यद्यपि मेरा निवास अधिकतर कानपुर में रहता था; क्योंकि मेरे पिता कानपुर में वकालत करते थे; परन्तु वर्ष में एक बार वह सपरिवार अपनी जन्मभूमि कस्बह गंगोह (जिला सहारनपुर) अवश्य जाते थे। अतएव, वहाँ भी मेरी एक मित्र-मण्डली थी। सन् १९०१ अथवा १९०२ में पहले-पहल कानपुर में प्लेग-देव का आक्रमण हुआ। वह बहुत ही भीषण था। हम लोग शहर का मकान छोड़कर छावनी के एक बँगले में चले गये थे। हमारे बँगले के सामने जो सड़क थी, वही श्मशान का रास्ता था। उस रास्ते पर मुर्दों की क़तार इस प्रकार चलती थी, जिस प्रकार ऊँटों की क़तार चलती है। मैं दिन भर यही दृश्य देखा करता था। अस्तु।

कुछ दिनों छावनी में रहने के पश्चात् मेरे पिता सपरिवार गंगोह चले गये। वहाँ लगभग एक मास रहने के पश्चात् मेरे पिता तो कानपुर चले आये; परन्तु मैं अपनी माता-सहित वहीं रह गया। क़स्बह गंगोह सहारनपुर से बीस मील की दूरी पर है। अब तो पक्की सड़क होजाने के कारण मोटर लारियों से केवल दो घंटे का रास्ता रह गया है; परन्तु उस समय कच्ची सड़क थी और बहली तथा इक्कों-द्वारा जाने में प्राय: पूरा दिन लग जाता था; अतएव जो वस्तुएँ कस्बे में प्राप्त नहीं थीं, उन्हें शहर से मँगाने में बड़ी दिक्क़त होती थी। वहाँ केवल एक दूकान थी, जो खिलौने, साबुन, सेन्ट इत्यादि में शहर की दूकानों से टक्कर लेती थी; परन्तु इसके साथही शहर की अपेक्षा सवाया-डेवढ़ा मूल्य भी लेती थी। मेरे लिये यह दूकान वैसी ही मनोरम थी, जिस प्रकार कानपुर का चौक अथवा माल रोड! मैं बहुधा इस दूकान में जाकर अपना चित्त बहलाया करता था।

जब मेरे पिता कानपुर चले आये और मैं अपनी माता-सहित वहाँ रह गया, तो एक दिन मैं उसी दूकान में बैठा था। दूकानदार नये माल की एक पेटी खोल रहा था और मैं बड़ी उत्सुकता से इस प्रतीक्षा में था कि इसमें से क्या-क्या निकलता है; क्योंकि दूकानदार ने कहा था कि पेटी में कुछ नये प्रकार के खिलौने हैं। पेटी खुली और दूकानदार ने खिलौने निकालने प्रारम्भ किये। खिलौने अनेक प्रकार के थे। उसमें एक मुर्गा भी था, जो चाबी से चलता था और मुर्ग़े की बोली भी बोलता था। यह खिलौना मुझे बहुत पसंद आया। चाबी से चलनेवाली रेल तो मैं देख चुका था और कई तोड़ भी चुका था; परन्तु मुर्ग़ा चलता-फिरता और बोलता हुआ—यह मेरे लिए बड़ी अद्भुत बात थी। मैंने निश्चय कर लिया कि यह खिलौना अवश्य लेना चाहिए। दूकानदार से मूल्य पूछा, तो उसने दो रुपये बताये। दो रुपये! मन में सोचा इतनी बड़ी रक़म जरा कठिनता से प्राप्त होगी; परन्तु कुछ भी हो, बिना यह खिलौना लिये तो जन्म सुफल नहीं होगा। दूकानदार से कहा—'यह खिलौना मैं लूँगा, तुम किसी और के हाथ मत बेचना—समझे!'

दूकानदार मुस्कराकर बोला—'हमें तो जो दाम देगा, उसी को देंगे।'

मैंने कहा—'मैं दाम दूँगा, तुम और किसी को मत देना—तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। मैं आज-कल में इसे ले जाऊँगा।'

दूकानदार बोला—'अच्छा कल तक मैं किसी और के हाथ नहीं बेचूँगा।'

दूकानदार के इतना आश्वासन देने पर मैं प्रसन्नता-पूर्वक घर की ओर भागा; परन्तु साथ ही

दो रुपये जुटाने की चिन्ता भी थी। यद्यपि दूकान के निकट ही घर था; परन्तु उतना ही रास्ता तय करने में मैं न जाने क्या-क्या सोच गया। 'माताजी दो रुपये एक दम से नहीं देंगी। किस तरह दो रुपये मिलें?

चन्द्रप्रकाश नामक मेरा एक चचाजात भाई था, वह भी मेरा समवयस्क था—पहले मैं उसके पास पहुँचा। मैं उससे बोला—चन्द्रप्रकाश! आज मैं एक बड़ा अच्छा खिलौना देख आया हूँ—'दो रुपये दाम हैं!'

चन्द्रप्रकाश बोला—'दो रुपये तो बहुत हैं!'

मैंने कहा—'मैं तो जरूर लूँगा।'

'तेरे पास दो रुपये हैं?'—उसने प्रश्न किया!

'हैं तो नहीं।'

'तब फिर?'

'माँ से लूँगा।'

'हुँ, लेगा! ताईजी कभी भी ना (नहीं) देने की।'

'तू मेरे साथ चल, तू कह देना कि दे दो, तो दे देंगी।'

'बड़ा हुसियार! खिलौना लावे तू और कहूँ मैं।'

'तू भी तो खेलेगा, क्या मैं अकेला ही थोड़ा खेलूँगा।'

'ना भाई, मैं नी कहता—ताईजी गुस्से होंगी।'

'अच्छा तो जा, आज से मेरी-तेरी खुट्ट!'

'खुट्ट तो खुट्ट सही, मैं क्यूँ कहूँ—मेरी कहे जुत्ती! (जूती)!'

उसकी ओर से निराश होकर मैंने अकेले ही यह कठिन कार्य करना निश्चय किया।

कहाँ तो मैं केवल भोजन करने घर जाता था, वैसे समस्त दिन बाहर ही खेला करता था और कहाँ उस दिन मैं माताजी के पास बैठा उनका मुख ताकता रहा कि जब यह खूब प्रसन्न हों, तब कहूँ। माताजी तो मेरे स्वभाव से परिचित हो थीं—वह समझ गईं कि आज कुछ मतलब है, तभी यह घर में घुसा बैठा है। उन्होंने दो-एक बार कहा भी कि 'आज तू घर में क्यों बैठा है।' मैंने उत्तर दिया—'आज मेरी चन्द्रप्रकाश से लड़ाई हो गई।'

'क्यों लड़ाई हो गई?'—माताजी ने पूछा।

'उसने मेरा कहना नहीं किया, इससे लड़ाई हो गई।'

'उससे लड़ाई हो गई तो और भी तो हैं, सुमेरा है, कुब्जू है, रघुबीर है।'

'वह सब आज न जाने कहाँ चले गये।'

माताजी चुप हो रहीं। थोड़ी ही देर पश्चात् कुब्जू और रघुबीर आकर बोले—'विसम्भर, आज तो तू घर में घुसा बैठा है—चल गेंद-बल्ला खेलें।'

मैंने कहा—'मैं नो खेलता गेंद-बल्ला, मुझे नी अच्छा लगता।'

'अच्छा तो किल्ली-डंडा (गुल्ली-डंडा) खेलेगा?'

'न!'—मैंने उत्तर दिया।

'अच्छा तो गेंद-बल्ला हमें देदे, हम खेलेंगे।'

'ले जाओ।'

वे दोनों गेंद-बल्ला लेकर चले गये। यद्यपि मेरी इच्छा खेलने की थी; परन्तु, दो रुपये हस्तगत करने का महान् कार्य जो करना था; इसलिए मन मार कर रह गया।

अन्त में और कोई उपाय न देखकर मैंने स्पष्ट ही कहना उचित समझा; परन्तु साहस नहीं पड़ता था। अत्यन्त साहस करके मैंने माताजी से कहा—'तुमने ऐसा मुर्ग़ा देखा है, जो चाबी से चलता है और बोलता है?'

माताजी ने मुस्कराकर कहा—'मैंने नहीं देखा, कहाँ है?'

उनके मुस्कुराने से मेरा साहस बढ़ा—यद्यपि वह अपने उस अनुमान के सत्य निकलने पर मुस्कुराई थीं, जो मेरे घर में बैठे रहने से उन्होंने किया था।

मैंने कहा—'एक दुकान में आया है—बड़ा अच्छा है—तुम देखो तो खुश हो जाओ। और बड़ा सस्ता है, खाली दो रुपये का तो हई है।'

वह जितना सस्ता था, वह मेरा हृदय अनुभव कर रहा था; परन्तु माताजी को सस्ता जतावे बिना काम कैसे चले।

माताजी बोलीं—'हाँ सस्ता है, दो रुपये का सस्ता है!'

'सस्ता नहीं तो और क्या है, वैसा खिलौना कहीं मिलता भी है।

'नहीं मिलता, तो न मिले, हमें क्या करना है।'

'मै तो वह खिलौना लूँगा, मुझे बड़ा अच्छा लगता है।'

'इतने खिलौने घर में हैं, उनसे पेट नहीं भरा?'

'वह इस-जैसे थोड़े ही हैं।'

'नहीं हैं, तो न सही।'

अब मैंने खुशामद आरम्भ की; परन्तु माताजी ने एक न सुनी। परन्तु मैंने भी भीष्म प्रतिज्ञा की थी। मैंने रोना आरम्भ किया—भोजन नहीं किया। अन्त में दूसरे दिन प्रातःकाल माताजी को हार मानकर रुपये देने ही पड़े। मैं रुपये लेकर खुशी-खुशी चला। सोचा अपने दोस्त कुन्जू को साथ लेता जाऊँ। इस अभिप्राय से पहले उसके घर पहुँचा। कुन्जू एक ग़रीब ब्राह्मण का लड़का था—मैं उसे कभी दो-चार पैसे दे देता था, इससे वह मेरा आज्ञाकारी था और मेरी उससे खूब पटती थी। उसके घर पहुँचकर मैंने उससे कहा—'कुन्जू, चल आज एक बड़ा बढ़िया खिलौना लावें।' परन्तु इस शुभ संवाद से कुन्जू के मुख पर प्रसन्नता नहीं आई—वह उदास था। मैंने उससे पूछा—'क्या बात है?' उसने कुछ उत्तर न दिया। हठात् मेरी दृष्टि दालान की ओर गई। देखा—'उसकी माता बैठी रो रही हैं।'

मैंने कुन्जू से पूछा—'क्या बात है, तेरी माँ क्यूँ रो रही है?'

कुन्जू नेत्रों में आँसू भरकर बोला—'बहन बड़ी बीमार है।'

'दवाई नहीं दी!'—मैंने पूछा। वह बोला—'हकीम के पास ले गये थे—उसने दवाई लिखी है; पर माँ कहती हैं कि दवाई लाने को पैसे नहीं हैं।'

मैंने सोचा—'दवाई को पैसे नहीं हैं। कुन्जू की बहन है—बेचारे बड़ी गरीब हैं। दवाई तक को पैसे नहीं हैं। मेरे पास दो रुपये हैं—इन्हें दे दूँ, तो? खिलौना कैसे मिलेगा? चार रुपये होते, तो इन्हें दे देता।' मैं बड़े असमंजस में पड़ा। उधर खिलौने का मोह, इधर कुन्जू की सहायता करने का विचार! दोनों कार्य कैसे हों?

इतने में उसकी माता मुझसे बोलीं—'बेटा, तेरे पास कुछ पैसे हों, तो देदे, मेरे पास आवेंगे तो दे दूँगी, भगवती बड़ी बीमार है, उसके लिए दवा मँगाना है।'

मेरे सब विचार विलीन हो गये और मेरे मुँह से अकस्मात् निकल पड़ा—'लो ये रुपये, इनकी दवा मँगा लो।' यह कह कर मैंने दोनों रुपये कुन्जू की माँ के सामने फेंक दिये।

कुन्जू की माता मुझे अनेक आशीर्वाद देने लगीं। मैंने उनके आशीर्वादों पर ध्यान न दिया—उदास भाव से बाहर चला आया। बाहर आकर मानों आँखें-सी खुलीं। मैंने सोचा—'ऐं यह क्या किया—रुपये दे आया! अब खिलौना कैसे आवेगा? माँ पूछेंगी, कि खिलौना कहाँ है, तो क्या कहूँगा। पहले दो रुपये प्राप्त करके खिलौना लाने की चिन्ता थी और अब यह चिन्ता सवार हुई, कि माताजी पूछेंगी, तो क्या कहूँगा। साथ ही खिलौना प्राप्त न होने का दुःख भी था। मुझे अपने ऊपर क्रोध आया कि मैं कुन्जू के घर गया ही क्यों। न मैं उसके घर जाता, न मेरे रुपये छिनते। मुझे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों मेरे रुपये छीन लिये गये; परन्तु इसके साथ ही अन्तरात्मा के किसी कोने में यह सन्तोष भी था, कि जो कुछ किया अच्छा ही किया—एक ग़रीब की सहायता की। कुन्जू बड़ा गरीब

(शेषांश ८६ वें पृष्ठ के नीचे)

मेरा एक अनुभव

लेखिका—श्रीमती यशोदा देवी

जब मैं ग्यारह साल की थी, मिडिल की परीक्षा के बाद मेरा पढ़ना ख़तम हो गया। पिताजी की राय नहीं पड़ी कि वे मुझे और पढ़ावें। मेरे बड़े भाई का इरादा बहुत था, कि वे मुझे और शिक्षा दिलावें; पर पिताजी पुराने विचारों के आदमी थे। वे समझते कि लड़की सयानी हो चली है। समाज में उनकी हँसी होगी। घरेलू काम-काज में होशियार करना चाहते थे; क्योंकि उनका विचार था, कि शिक्षा के माने यह नहीं है कि सिर्फ़ पढ़ाई हो। गृह-कार्य में चतुर होना गृहिणी का मुख्य कर्त्तव्य है।

बस मेरी गृहचर्य्या शुरू हुई। धीरे-धीरे मैं तेरह साल की हुई। घर में मेरे पिताजी, माताजी, एक बड़े भाई और एक मुझसे छोटा भाई और मेरी भाभी थीं। भाई का ब्याह, जब मैं ग्यारह साल की थी, तभी हो गया था।

मेरी माँ बड़ी चतुर गृहिणी थीं। घर का पूरा प्रबन्ध करने में बड़ी होशियार थीं। मुझे भी वह योग्य गृहिणी बनाना चाहती थीं। भाभी सिलाई वगैरः में होशियार थीं। माताजी तो गृह-कार्य सिखातीं, भाभी सीना-पिरोना सिखातीं। मैंने इन सब बातों को खूब अच्छी तरह सीख लिया।

(२)

चौदहवें साल में पहुँचते-पहुँचते पिताजी को मेरे विवाह की बड़ी जल्दी पड़ी। पिताजी वृद्ध हो चले थे। वे चाहते थे कि अपने जीवन में कन्या का विवाह कर दें। माताजी का भी आग्रह था। पिताजी को अधिक परिश्रम करना पड़ा। सिर्फ़ एक जगह बात हुई और उसी जगह ब्याह तै हो गया। ब्याह के पहिले सिर्फ़ मैं खेलने-खाने और सिने-पिरोने में मग्न रहती। कभी ब्याह के लिये इच्छा न होती। सुनती कि ब्याह के बाद ससुराल जाना पड़ता है। यह सोचकर मेरी इच्छा न होती, कि ब्याह हो। मैं सोचती कि कैसे सब ससुराल जाती हैं। मुझसे तो यह घर न छोड़ा जायगा।

मुझे बचपन से किताबें पढ़ने का बहुत शौक था। पिताजी लाइब्रेरी से पुस्तकें मँगा देते; परन्तु वे पुस्तकें सिर्फ़ बहादुरी और धर्म-कर्म की होतीं।

एक दफ़े मैंने कुतूहल-वश कोई उपन्यास मँगाया। माताजी ने पढ़ा, वे काफ़ी पढ़ी लिखी थीं। बस झट मना करा दिया, कि लड़कियों के लिये वे किताबें न भेजना चाहिये।

भाभी अगर कभी मज़ाक करतीं, वे भी रोक ली जातीं। फिर मुझे ब्याह का महत्व कैसे मालूम हो। मैं तो सिर्फ़ यही जानती कि ब्याह होने से मैं माता-पिता से अलग कर दी जाऊँगी। इसी से मैं बहुत डरती थी।

(३)

ब्याह तै हो गया। मेरे ससुरजी अच्छे आदमी थे। उन्होंने दहेज़ का करार न किया। पिताजी दहेज़ के बहुत खिलाफ़ थे। भाई के ब्याह में उन्होंने भी दहेज़ न लिया था। मेरे ससुरजी ने दहेज़ तो न लिया; पर पिताजी ने अपने हैसियत के अनुसार बहुत दिया। मैं भी माँ-बाप की बड़ी दुलारी लड़की थी। करीब सात हज़ार रुपये के मेरे ब्याह में पिताजी ने ख़र्च किया।

जब बरात दरवाज़े पर आई, सब स्त्रियाँ बरात देखने के लिये दौड़ीं। मैं भी दौड़ी गई। मुझे

यह ज़रा भी ख्याल न था कि लोग हँसेंगे। मुझे तो विवाह खेल मालूम पड़ता था। मुझे जो रस्म करनी पड़ती थी, वह बहुत बुरी लगती थी। मजबूरन सब करती थी।

बरात देखकर मैं बहुत खुश हुई। बरात में मैंने क्या देखा? सिर्फ़ फुलवारी, आतशबाजी और रोशनी देखती रही। पति देव को न देखा।

ब्याह के वक्त मुझे बैठना बड़ा नागवार लगता था। नींद के मारे मेरी आँखें झुकी पड़ती थीं। हाँ, गहने देखकर बहुत खुशी हुई थी। क्योंकि मेरे ससुरजी बहुत से कीमती गहने लाये थे, और सब लोग तारीफ करते थे।

ब्याह हो गया, मैंने ब्याह का अर्थ न समझा, चुपचाप पुतली की तरह बैठी रही। जो-जो रस्म पंडितजी बताते करती जाती। वर-कन्या की प्रतिज्ञा का एक शब्द भी मैंने नहीं सुना।

ब्याह के दूसरे दिन बिदाई की साइत थी। जब मैंने सुना कि एक अपरचित जगह जाना पड़ेगा, मुझे बहुत बुरा मालूम पड़ा। मैंने खूब रोना शुरू किया। अब मुझे वे गहने अच्छे न मालूम पड़ते थे। न तो मेरी माता ने और न भाभी ही ने बताया कि ससुराल में कैसे रहना चाहिये। सिर्फ माँ ने एक दफे रोते-रोते कहा था—'बेटी, अच्छी तरह रहना, रोओ मत।'

मैं और भी फूट-फूटकर रोने लगी। उस वक्त ऐसा मालूम होता था, कि अथाह सागर में बही जा रही हूँ। जिसका कोई किनारा नहीं है।

(४)

जब ससुराल आई, तो सभी अपरचित। मुझे बड़ा खराब लगा। मेरे ससुराल के लोग बड़े खुश हुए। मैं एक मात्र उनकी पुत्र-बधू थी। बड़ा आदर-सत्कार हुआ; परन्तु मुझे यह आदर-सत्कार बिल्कुल अच्छा न लगता था। मैके से बढ़कर यहाँ दुलार-प्यार होता; लेकिन इस प्यार में मुझे नीरसता मालूम पड़ती। दो नन्दें थीं, वे भी दिन-रात मेरी खातिर में लगी रहतीं; परन्तु मुझे यह सब अच्छा न लगता। मैं अपने मैके की मज़दूरिन से दिन भर यही बातें करती कि कब यहाँ से जाऊँगी।

पतिदेव का स्वभाव बड़ा मीठा था। वे मुझसे उम्र में ७ साल बड़े थे। मैं १५ साल की थी। वे २१ साल के। मैं उनसे बहुत डरती थी। उनकी सूरत को देखकर मुझे डर मालूम होता। मैं बहुत घबराती। वे बड़े प्रेम से मुझे समझाते; पर मैं कभी उनकी तरफ खुशी से देखती भी न थी। उनसे दूर-ही-दूर रहती। विवाह के १७ वें दिन अपने मैके चली आई। मुझे ज़रा भी किसी से मुहब्बत न हुई।

(५)

परन्तु पतिदेव बड़े सहनशील थे। वे समझते थे कि अभी मेरा लड़कपन है। गौने के बाद उन्होंने अच्छी-अच्छी किताबें पढ़ाना शुरू किया। बात-बात में शादी का महत्व बताया। पति के प्रति और ससुराल वालों के प्रति मेरा कर्त्तव्य बताया। हर बात में यही कहते, कि तुम्हारा घर यही है। तुम अब अपने घर में हो। कुमारी-जीवन में पिता का घर अपना होता है। और जहाँ शादी हुई कि वह घर दूसरा हो जाता है। पति ही का घर स्त्री का मुख्य घर है।

धीरे-धीरे मैंने उनकी बातों पर ध्यान देना शुरू किया। अपना कार्त्तव्य निश्चित किया, धीरे-धीरे घरवालों में प्रेम भी उत्पन्न हुआ।

पति-प्रेम इतना बढ़ा कि अब एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते।

अगर हम लोगों को बचपन ही से यह सिखाया जाता, कि पति का गृह उसका गृह है, ब्याह का महत्व समझाया जाता, तो मैं इतने दिन तक क्यों इस महल का निरादर करती। बचपन का ब्याह इसीलिये ख़राब कहा गया है। अब मैं पछताती हूँ। शादी के बाद उतने दिन मैं अपने कर्त्तव्य से अलग रही। छोटी उम्र में ब्याह का महत्व हम लोगों को नहीं मालूम होता। बस, हम लोग सिर्फ़ खेल समझती हैं।

अमृती बात रोग नाशक
हरिदास एण्ड कम्पनी का
अमृती नारायण तेल
सर्वोत्तम रामबाण महौषधि है। इसकी मालिश से लकवा, फालिज अर्द्धांग और
भयानक-भयानक रोग बात-की-बात में भाग जाते हैं।
बनैली नरेश
राजा कृष्णानन्दसहायजी बहादुर लिखते हैं—"आपका नारायण तेल मैंने सब तरह के दर्दों में लाभदायक पाया है। एक बार मुझे Blood-Pressure की शिकायत हो गई थी, इस तेल के व्यवहार से मैं एक हफ्ते में अच्छा हो गया। बहुत से आदमियों को गठिया इत्यादि में भी फायदा हुआ।"
मूल्य १ पाव का ३) डाक खर्च ।।)
पता—हरिदास एण्ड कम्पनी, गंगाभवन मथुरा सिटी।

श्रीयुत प० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी और उनकी सहयोगिनी।

मेरी सहयोगिनी

लेखक—श्रीयुत पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी

आज से लगभग तैंतीस-चौंतिस वर्ष पहले, मेरी सहयोगिनी लक्ष्मीदेवी के साथ मेरा पाणि ग्रहण हुआ। उस समय दोनों लगभग समवयस्क ; अर्थात्—ग्यारह-बारह वर्ष के थे। दोनों को यह तो मालूम था, कि हम दोनों दूल्हा-दुलहिन हैं ; परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई भाव जाग्रत नहीं थे। मेरे माता-पिता, दादा और दादा—विशेषकर माता ही को—इस बात का बड़ा भारी चाव था कि मेरे बेटे का ब्याह शीघ्र हो जाय, जिससे बहू और बेटा दोनों साथ आँगन में खेलते हुए देखकर हम अपनी आँखों को शीतल करें। यही बात हुई। इस बालविवाह से हम दोनों को यह लाभ अवश्य हुआ कि कई दिनों तक हम दोनों, घर के अन्य बालकों के साथ, खेले और खाये—दोनों में अकृत्रिम विशुद्ध प्रेम की गाँठ पड़ गई।

फिर मुझे अपने अध्ययन-अध्यापन के लिए पाँच-सात वर्ष बाहर रहना पड़ा। इस बीच में हम दोनों समय-समय पर मिलते ; पर लगातार दोनों का साथ रहना नहीं हुआ। मेरी सहयोगिनी ब्याह के समय लगभग निरक्षर ही थी। हम दोनों देहात के थे। उस समय देहात में लड़कियों के स्कूल प्रायः बिलकुल नहीं थे। यद्यपि मेरी ससुराल के गाँव में एक आर्यसमाजी सज्जन पं० श्यामनारायण दीक्षित ने अपने घर पर उस समय भी लड़कियों की पाठशाल खोल रखी थी ; और उनको लड़कियों को शिक्षित करने का इतना अधिक प्रेम था, कि आप घर-घर जाकर लड़कियों को अपने साथ ले आते थे ; और किसी से एक कौड़ी फीस नहीं लेते थे। पढ़ने की सामग्री भी अपने पास से देते थे। मेरी सहयोगिनी भी बालपन में कुछ दिन उस पाठशाला में गई थी ; पर उसकी माता ने बालपन में गृह-कार्य की शिक्षा की ही ओर विशेष जोर दिया। इसलिए अक्षरज्ञान के अतिरिक्त पढ़ने-लिखने का कोई विशेष अभ्यास नहीं हो सका।

मेरी अवस्था १७ वर्ष के लगभग रही होगी ; पर पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने का मुझे बालकपन से ही शौक था ; और मानपुर में विद्याध्ययन करते हुए मैंने आर्यसमाज में स्वर्गीय लाला लाजपतराय के कई व्याख्यान भी सुने थे, जिससे देशभक्ति और समाजसुधार के भाव मेरे हृदय में घर कर गये थे। मैंने सोचा कि मेरी सहयोगिनी मुझे पत्र नहीं लिखती है ; और यह भी सन्दिग्ध है, कि उसे अक्षरज्ञान है भी या नहीं। इसलिए अबकी बार जब मैं उससे मिलूँ, तो उसे पत्र लिखने को प्रेरित करूँ। मैंने ऐसा ही किया। और लक्ष्मीदेवी से पत्र लिखते रहने का वचन ले लिया। यह सन् १९०३ के लगभग की बात है। मैंने पति को पत्र लिखने का एक नमूना अपनी सहयोगिनी को बतलाया। उसने उस नमूने को अपने पास रख लिया। कुछ अक्षर-मात्राओं का ज्ञान पहले से था ; और कुछ अपने प्राणपति को पत्र लिखने का स्वाभाविक प्रेम—इन दोनों से ही उत्साहित होकर लक्ष्मीदेवी पत्र लिखने लगीं। फिर मैंने पुस्तक पढ़ने को और उनको उत्साहित किया ; और लाला सीतारामजी बी० ए० की लिखी हुई 'बटसावित्री' की छोटी-सी कथा उनको भेंट की (यह पुस्तिका अभी तक लक्ष्मीदेवी ने अपने पास सुरक्षित रख छोड़ी है) फिर और कई उपन्यास पढ़ने को दिये, जो राजपूताने की तथा अन्य वीराङ्गनाओं की कथा को लेकर लिखे गये थे। इस प्रकार मेरी सहयोगिनी ने दो-एक साल में अच्छी तरह से लिखना-पढ़ना सीख लिया ; परन्तु ग्राम में रहने के कारण विचारों

में कोई उत्क्रान्ति नहीं हुई। मैं कानपुर के जिले का रहनेवाला हूँ, और जिस समय की कथा लिख रहा हूँ, उस समय समाज आज से बहुत पीछे था। स्त्रियों में केवल गृहस्थी का भाव था। अपनी गृहस्थी को अच्छी तरह चलाना, बाल-बच्चों का प्रेम से पालन करना, पतियों को द्रव्योपार्जन के लिये उत्तेजित करना और अपने गहने-कपड़े के लिये उनसे झगड़ना—यही स्त्रियों के आदर्श थे। मेरी सहयोगिनी की सखी-सहेलियों और परम्परा प्राप्त बुजुर्ग स्त्रियों से भी यही शिक्षा और आदर्श उसको मिलता था। मैं महीने-दो-महीने में कभी दो-चार दिन के लिये घर जाता, तो उसका विशेष प्रभाव क्या पड़ सकता था!

सन् १९०५ ई० में पत्र-व्यवहार-द्वारा और पूज्य बा० श्यामसुन्दरदासजी की मध्यस्थी से स्वर्गीय पं० सांवलरावजी सप्रे से मेरा परिचय हुआ। उस समय मेरी अवस्था सिर्फ अठारह वर्ष की थी और मेरी सहयोगिनी की भी इतनी ही उम्र थी। मैं घर छोड़कर देश और साहित्य की सेवा के मार्गों की तलाश में भ्रमण करता हुआ, उस समय काशी में उपस्थित था। मेरे अन्दर देशभक्ति के भाव जागृत हो चुके थे। इसके एक साल पहले; अर्थात्—१९०४ से ही मैं आजीवन के लिये 'स्वदेशी' का व्रत ले चुका था, जो आज तक बिलकुल अटूट है। बंग-भंग का आन्दोलन शुरू हो चुका था। मैंने अपनी सहयोगिनी, अपने कुटुम्बियों और रिश्तेदारों के कानों में भी 'स्वदेशी' की आवाज़ उसी समय डाल दी थी, जिसका पालन अभी तक हो रहा है। अस्तु।

स्वर्गीय सप्रेजी के आह्वान पर मैं नागपुर, उनकी 'हिन्दी-ग्रन्थमाला' की सहायता के लिये चला गया। उन्होंने मुझे पत्र-द्वारा आश्वासन दिया था, कि तुम मेरे साथ देश, समाज और साहित्य की सेवा में अग्रसर हो सकोगे और पूज्य बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने भी मुझे एक उत्साही युवक देखकर ऐसी ही सम्मति दी थी। सप्रेजी अकेले ही उस समय अपनी ग्रन्थमाला का कार्य करते थे। ग्रन्थों का सम्पादन, प्रकाशन, पत्र-व्यवहार, डिस्पेच इत्यादि सब अपने हाथ से करते थे। उन्होंने आजकल के प्रकाशकों की तरह व्यवसाय के लिये ग्रन्थमाला नहीं निकाली थी; बल्कि हिन्दी-साहित्य में एक विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिये ही उनका यह उद्योग था और लक्ष्य था हिन्दी में तेजस्वी साहित्य का उत्पादन और इस निमित्त से सुयोग्य ग्रन्थकारों को प्रोत्साहित करना। उनके पास पूँजी कुछ भी नहीं थी। सिर्फ कुछ मित्रों की सहायता से ही उन्होंने यह कार्य प्रारम्भ किया था।

अस्तु। जब मैं नागपुर पहुँचा, तब दो-एक महीने में ही सप्रेजी का ग्रन्थमाला का कार्य मैंने पूरा-पूरा अपने हाथ में ले लिया; और उन्होंने भी मुझपर विश्वास करके मेरे ऊपर सब काम छोड़ दिया। फिर अवकाश पाकर वे 'हिन्दी-केसरी' निकालने की संयोजना में लगे। यह सन् १९०६ की बात है। उस समय लक्ष्मीदेवीजी कानपुर की देहात में घर पर थीं, और मैं नागपुर में। मेरे अचानक घर छोड़कर निकल खड़े होने पर मेरी सहयोगिनी बहुत घबड़ा गई थी। मैं लगभग साल भर देश-सेवा और समाज-सेवा के मार्गों की तलाश में कई जगह भटकता रहा; परन्तु जहाँ कहीं रहा, घर को पत्र लिखता रहा; और मेरी सहयोगिनी के पत्र भी बराबर मेरे पास आते-जाते रहते थे। फिर भी उनकी घबड़ाहट कम न हुई थी। परिणाम यह हुआ, कि भयानक रोग-शैया का उनको सामना करना पड़ा। मेरे पास सख्त बीमारी का तार पहुँचा। तार पढ़कर मैंने बैसाही लिफाफे में बन्द करके रख दिया; और 'हिन्दी-केसरी' के बढ़ते हुए कार्य में फिर लग गया। एक मित्र के द्वारा जब सप्रेजी को तार का पता चला, तब उन्होंने उस तार के प्रभाव से बिलकुल विचलित न होकर मेरे कार्य में बराबर संलग्न रहने पर आश्चर्य प्रकट किया, फिर मुझको पास बुलाकर सब समाचार पूछा; और तुरन्त ही कानपुर जाने की आज्ञा देकर यह भी कहा, कि 'यहाँ काम बढ़ रहा है। आप अबकी बार पत्नी के आराम होने पर, कुटुम्ब को भी साथ लेते आइये। आप का सब भार कार्यालय उठावेगा।' इसके सिवाय और भी हिन्दी जाननेवाले कुछ क्लर्क, तथा मशीनमैन इत्यादि अपने साथ उत्तर भारत से लाने की उन्होंने मुझे आज्ञा दी।

मैं घर आया, तो लक्ष्मीदेवी को रोग-शैया पर मरणासन्न पाया; परन्तु मेरे पहुँच जाने के दूसरे ही दिन से उनकी तबीयत बदल गई; और वे चंगी होने लगीं। अन्त में पूर्ण आरोग्य होने पर मैं एक अच्छे-खासे परिवार के साथ नागपुर को रवाना हुआ। मेरी सहयोगिनी, मेरे छोटे भाई-बहन और दो-तीन क्लर्क और मशीनमैन को लेकर मैं नागपुर आ गया। सप्रेजी का निवास-गृह, जो भाड़े का ही था, उस समय खाली था। उसमें पहले मैं और सप्रेजी, दो ही व्यक्ति रहते थे; उनकी धर्मपत्नी साध्वी पार्वतीबाई के बच्चा होनेवाला था; इसलिए वे रायपुर चली गई थीं, जहाँ सप्रेजी का अन्य परिवार था; अतएव अब मेरा परिवार सप्रेजी के घर में ही आकर ठहरा। लक्ष्मीदेवी की अवस्था अभी उन्नीस वर्ष से अधिक नहीं थी। वे कानपुर के देहात को छोड़कर क्या आईं—एक नवीन दुनिया में आगईं। यहाँ सब महाराष्ट्र का चाल-चलन था। कानपुर की तरफ यदि मुँह खोलकर बहू का निकलना अभद्र समझा जाता था, तो यहाँ मुँह ढककर, या घूँघट निकालकर घर में रहना और बाहर निकलना विचित्र-सा मालूम होता था। नागपुर में अधिकांश महाराष्ट्र-समाज है, जिनमें पर्दा बिलकुल नहीं है। बहू और बेटियाँ देखने में एक ही समान लगती हैं। सिर खोलकर चलना सौभाग्यवती का लक्षण है; और उत्तर भारत में यदि कोई तरुणी सिर खोलकर चले, तो उसे समाज वेश्या की उपाधि से भूषित करेगा।

मुझे महाराष्ट्र का रहन-सहन और चाल-चलन प्रायः बहुत पसन्द आया था; क्योंकि उसमें एक प्रकार की स्वभाविकता, सादगी और विमल दृष्टि या पवित्रता का मैं अनुभव करता था। मैंने पहले अपनी सहयोगिनी का पर्दा दूर कराया; और छोटे-बड़े सब लोगों के सामने निकलते समय घूँघट न निकालने का आदेश दिया। लक्ष्मीदेवी के हृदय में पति-भक्ति और पति की आज्ञा के पालन करने का गुण पहले ही से असीमरूप में मौजूद है। मेरी कोई आज्ञा, चाहे उचित हो या अनुचित, उसका पालन करना ही चाहिये। इस विषय में मेरी कठोरता मेरे मित्रों में प्रसिद्ध है। तदनुसार मेरी सहयोगिनी ने १९ वर्ष की उम्र में ही मेरी आज्ञा से पर्दे की परिपाटी को तोड़ दिया; और मेरे सामने मेरे बुजुर्ग मित्रों के आगे भी मुँह खोलकर निकलने लगीं।

अभी हम लोग सप्रेजी के घर में कुछ ही दिनों से रहने लगे थे। एक दिन स्वर्गीय सप्रेजी ने स्नान करने के पहले, कान में तेल डाल देने के लिए लक्ष्मीदेवी से कहा। लक्ष्मीदेवी पहले कुछ झिझकीं; पर सप्रेजी ने कहा—'कोई हर्ज नहीं। तुम आकर मेरे कान में तेल डाल दो।' तब लक्ष्मीदेवी ने उनके पास जाकर उनके कान में तेल डाल दिया। लक्ष्मीदेवी कहती हैं, कि सप्रेजी के समान सच्चरित्र और पवित्र दृष्टिवाले बहुत कम पुरुष उन्होंने अपने जीवन में देखे हैं। उनका कथन है कि वे मार्ग में भी जब चलते, तब इधर-उधर कभी नहीं देखते थे। पृथ्वी की ओर दृष्टि रखते हुए अपनी धुन में चलते थे, स्त्रियों की ओर तो वे प्रायः कभी देखते ही नहीं थे। सच्चरित्र पुरुष का यह बड़ा भारी लक्षण है।

लक्ष्मीदेवी का पर्दा तो दूर हो गया। बच्चों के विषय में हमको कोई शिकायत नहीं थी; क्योंकि स्वदेशी का व्रत ले लेने से आप-ही-आप सादगी आने लगी थी। हाँ, आभूषणों का प्रेम मेरी सहयोगिनी को अभी बहुत गहरा था। उत्तर भारत की स्त्रियों में भाँति-भाँति के बहुत-से छोटे-मोटे आभूषण प्रत्येक अंग में पहनने की चाल बहुत पुरानी है। मेरी सहयोगिनी को भी बालपन से ही अपनी सखी-सहेलियों के संसर्ग से, इन आभूषणों से अपने शरीर को सजाने की प्रीति उत्पन्न हो गई थी। मेरा प्रेम प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रारम्भ से ही था; अतएव नागपुर पहुँचने पर, कुछ दिनों बाद, मैंने लक्ष्मीदेवी के एक-एक अंग से आभूषणों का उतरवाना शुरू किया। पति का यह 'आर्डिनेंस' सहयोगिनी के लिए बहुत ही दुःखद प्रतीत हुआ। अठारह-उन्नीस वर्ष की युवती के ऊपर युवक पति का यह अत्याचार सचमुच ही असह्य था; परन्तु करें तो क्या!

एक दिन, जब कि हम लोग नागपुर के 'जुम्मा टेंक' के सामने खैरागढ़ की हवेली में रहते थे;

मैंने अपनी सहयोगिनी के कानों के (अथवा और कोई) आभूषण उतरवाये, तो उनको बहुत दुःख हुआ। मेरे कहने से गहने उस समय उतार तो डाले ; परन्तु जब मैं दफ़्तर में चला गया, तो फूट-फूटकर रोना शुरू किया, जिसकी आवाज़ सामने ही दफ्तर में पहुँची, जहाँ मैं सप्रेजी के साथ काम कर रहा था। सप्रेजी ने मुझसे पूछा कि 'क्यों, रो क्यों रही है? क्या मारा-पीटा है !' मैंने कहा—'जी नहीं, यह बात तो नहीं है। हाँ, कुछ गहने उतरवाये हैं। इसी से शायद दुखी होकर रो रही हो।' सप्रेजी ने मुझे बहुत समझाया ; और कहा कि ऐसे कामों में जल्दी नहीं करनी चाहिए। धीरे-धीरे सब हो जाता है। फिर अपनी धर्मपत्नी पार्वतीबाईजी का उदाहरण दिया ; और कहा कि मेरे घर में भी पहले इसी प्रकार आभूषणों से बहुत प्रेम था ; पर अब देखो, कितनी सादगी है। मैंने कभी इस प्रकार जल्दी नहीं की। प्रेम से समझाना चाहिए, तो आप-ही-आप सुधार हो जायगा। सप्रेजी के इस कथन से मुझे अपने लड़कपन और अनुभव-हीनता पर बड़ी लज्जा मालूम हुई।

मैं नागपुर में लगभग तीन वर्ष सप्रेजी के सम्पर्क में रहा। आगे चलकर उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीय पार्वतीबाई और मेरी सहयोगिनी लक्ष्मीदेवी में खासी मैत्री हो गई। मेरी सहयोगिनी उनकी शिष्या बन गई ; और गुलूबन्द, मोज़ा, बनियान, लड़कों के कनटोप और ऊनी बचकानी जूते इत्यादि कई हस्तकौशल के कार्य पार्वतीबाईजी से सीख लिये। स्वर्गीय श्रीमती पार्वतीबाईजी सप्रेजी की द्वितीय पत्नी थीं। सप्रेजी की प्रथम पत्नी निस्सन्तान गत हो चुकी थीं। स्वर्गीय पार्वतीबाईजी सप्रेजी के बिलकुल अनुकूल और अत्यन्त साध्वी देवी थीं।

'हिन्दी-केसरी' के सरकार-द्वारा बन्द किये जाने पर सन् १९०८ ई० में हम दोनों का कुटुम्ब मध्यप्रदेश के रायपुर नगर में आ गया। यहाँ पर भी हम दोनों के कुटुम्ब एक ही घर में रहते थे। सप्रेजी का और मेरा इतना प्रेम हो गया था, कि वे मुझे अपना छोटा भाई समझते थे। रायपुर में आकर हम दोनों ही वर्धा के प्रोफ़ेसर परांजपे, जो छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरु श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध साधु हैं, उनके उपदेश से हम लोग रामदासी सम्प्रदाय और समर्थ गुरु तथा महाराष्ट्र के अन्य साधुओं के साहित्य का अध्ययन करने लगे। हम दोनों का आचरण राजनीतिक साधुओं की तरह बन गया। श्रीसमर्थ रामदास के 'दासबोध' का पारायण, उसका हिन्दी में अनुवाद और उसी पर चर्चा, यह दिन में होता था ; और रात में हम दोनों के कुटुम्ब मन्दिर में जाकर भजन-कीर्तन करते थे। कुटुम्ब के लोग तो अपने-अपने घर का ही बना हुआ भोजन करते थे ; परन्तु मैं और सप्रेजी ब्राह्मणों के सात घरों से मधुकरी माँगकर सिर्फ एक बार 'भिक्षा' करते थे। दोनों ही कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते थे। सप्रेजी की अवस्था तो उस समय लगभग ३५-३६ वर्ष से कम न होगी। उनके चार सन्तान हो चुकी थीं। सब से बड़ी लड़की शान्ता, (जो ब्याह के बाद पीछे से स्वर्गवासिनी हो गई) उसके बाद चिरंजीव शंकर, नारायण और अनन्त। सप्रेजी के ये तीनों चिरंजीव पुत्र भगवान की कृपा से इस समय सुशिक्षित हो चुके हैं। मेरी और मेरी सहयोगिनी की वयस उस समय २३ वर्ष से अधिक नहीं थी ; और सिर्फ एक पुत्री विद्यादेवी, मेरी पहली सन्तान थी। इसकी अवस्था उस समय साल भर से अधिक न थी। उसकी तीन वर्ष की अवस्था का फोटो पाठक इस लेख के साथ प्रकाशित चित्र में देख रहे हैं।

सिर्फ २३ वर्ष की अवस्था में मेरा कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत मेरी युवती पत्नी को बहुत ही विलक्षण मालूम हुआ। मेरी सहयोगिनी और सप्रेजी की धर्मपत्नी श्री पार्वतीबाईजी जब घर के काम-काज से फ़ुरसत पाकर एक जगह बैठतीं, तो दोनों ही बड़ी चिन्ता में बात-चीत करती थीं और हम दोनों के साधुत्व पर कुछ-कुछ विनोद भी करती जाती थीं। दोनों ही को यह भय हो रहा था, कि मैं और सप्रेजी, कहीं गृहस्थी छोड़कर 'साधू' न हो जायँ। हम दोनों-ही-दोनों देवियों को बहुत सान्त्वना देते थे और यह भी कहते थे, कि हम लोगों को गृहस्थी नहीं छोड़ना है ; बल्कि गृहस्थी में ही रहकर साधु की तरह रहना है ; पर उन देवियों की समझ में यह बात नहीं आ रही थी, जो

अपनी गृहस्थी को ही सारा संसार ; और अपने बाल-बच्चों की सेवा को ही संसार की सेवा समझ रही थीं। लगभग दो वर्ष रायपुर में हम लोगों ने इसी प्रकार व्यतीत किये।

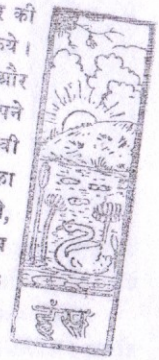

इसके बाद सप्रेजी की सम्मति से सन् १९११ में मैं 'दास बोध' को छपवाने और 'हिन्दी-चित्रमय-जगत्' के सम्पादन के कार्य से पूने चला गया। पहले मैं अपने कुटुम्ब को कानपुर की ओर छोड़कर अकेला पूने गया ; पर फिर पीछे से लक्ष्मीदेवी और ढाई-तीन वर्ष की छोटी बच्ची विद्यादेवी को भी पूने ले गया। यहाँ यह बतला देना उचित मालूम होता है, कि जब हम लोग अपने घर कानपुर जिले में पहुँचते थे, तब भी गाँव और घर में लक्ष्मीदेवी बिलकुल पर्दा नहीं करती थीं ; परन्तु सन्तोष की बात है, कि इससे हमारे गाँव और घर के गुरुजन कभी हमसे असन्तुष्ट नहीं हुए ; क्योंकि हम दोनों ही यद्यपि नवीन चाल-ढाल के बन गये थे ; परन्तु गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और सम्मान-भाव अपने हृदय में रखना और उनका गौरव तथा उनकी पूजा करना, हम लोगोंने कभी नहीं छोड़ा। इससे हमारी इस अप्रिय चाल को भी उन्होंने अपनी उदारता से क्षमा कर दिया और हमको कभी उनका कोप-भाजन नहीं बनना पड़ा। हाँ, गाँव की स्त्रियाँ और भौजाइयाँ अवश्य हँसी में लक्ष्मीदेवी से कह दिया करती थीं, कि 'तुम दोनों तो बिलकुल भाई-बहन की तरह रहते हो !'—इस पर लक्ष्मीदेवी सिवाय हँसने के और क्या कहतीं !

अस्तु। जब मैं अपनी सहयोगिन और लड़की को लेकर पूने पहुँचा, तब यहाँ लक्ष्मीदेवी के लिए और भी नवीनता मालूम हुई। चित्रशाला-प्रेस के मालिकों ने हमको चार-छै महाराष्ट्र कुटुम्बों के बीच में एक बाड़े (महाराष्ट्र में 'बाड़ा' बड़े भारी महल को कहते हैं, जिसमें कई कुटुम्ब रह सकते हैं) में रख दिया। मेरी सहयोगिनी ने यद्यपि पर्दा छोड़ दिया था ; और उत्तर भारत के भाँति-भाँति के जेवर भी अब उन्होंने त्याग दिये थे ; और पोशाक में काफ़ी सादगी थी ; परन्तु पोशाक अभी उत्तर भारत की ही साड़ी थी। महाराष्ट्र की स्त्रियाँ कच्छदार सोलह हाथ की साड़ी पहनती हैं, और लक्ष्मीदेवी बिना कच्छ की छोटी साड़ी या धोती पहनती थीं। यह देखकर उपर्युक्त बाड़े की महाराष्ट्र स्त्रियाँ लक्ष्मीदेवी को बड़ी विचित्र निगाह से देखने लगीं। इस पोशाक में उनको कुछ मुसलमानियत का भाव दिखाई पड़ा ; और वे स्त्रियाँ अपने को बहुत पवित्र ब्राह्मण समझकर मेरी सहयोगिनी से कहने लगीं कि 'तुम हिन्दुस्तान के राँगड़े ब्राह्मण हो।' यह कहकर वे लक्ष्मीदेवी से कुछ घृणा भी करने लगीं। बाड़े के बीच में कुआँ था। उस पर एक रस्सी और डोलची मालिक-मकान की तरफ से पड़ी रहती थी। बाड़े की सब स्त्रियाँ उसीसे पानी खींचकर अपने घड़ों में भर लिया करती थीं। लक्ष्मीदेवी जब कुएँ पर पानी भरने जातीं, तो अन्य महाराष्ट्र-स्त्रियाँ दूर खड़ी रहतीं ; और उनके पानी भर लेने के बाद रस्सी और डोलची को धो कर पानी भरतीं।

पूने में सड़क के ऊपर भी दो हौज बने रहते हैं, जिनमें नलों से पानी भरता रहता है। एक हौज ब्राह्मणों के लिए रहता है ; और दूसरा ब्राह्मणेतर ; अर्थात्—शूद्रों के लिए ; क्योंकि दक्षिण की तरफ सिर्फ दो ही वर्ण हैं—एक ब्राह्मण और दूसरे अब्राह्मण ; अर्थात्—शूद्र। वहाँ वैश्य और क्षत्रिय वर्ण नहीं हैं ; अतएव जब लक्ष्मीदेवी सड़क पर हौज में पानी भरने जातीं, तब भी स्त्रियाँ शूद्रों के हौज की तरफ इशारा करके उनका निषेध करतीं। इससे लक्ष्मीदेवी को बहुत बुरा लगता ; और वे मन-ही-मन कहतीं कि देखो, हम 'वाजपेयी' हैं, जो भारत के सब ब्राह्मणों में श्रेष्ठ गिने जाते हैं, फिर भी हमारा यहाँ इतना अपमान है। पूने की कूपमंडूक स्त्रियाँ भला यह क्या जानें ! बिना देश-विदेश की यात्रा किये मनुष्य में उदार भाव नहीं आते। अस्तु। लक्ष्मीदेवी ने जब मुझसे यह चर्चा की, तब मैंने उनको सलाह दी कि मैं एक सोलह हाथ की साड़ी तुमको ला दूँगा, और तुम उसको महाराष्ट्र-स्त्रियों की तरह पहना करो, तो इससे ठीक हो जायगा। 'जैसा देश वैसा वेष'। लक्ष्मीदेवी ने इसको स्वीकार कर लिया। मैं दूसरे ही दिन सोलह हाथ की एक साड़ी खरीद लाया ; पर लक्ष्मीदेवी को उसका पहनना नहीं आया। मेरी छोटी-सी लड़की विद्यादेवी के साथ खेलने को कुछ बालिकाएँ मेरे घर में आती थीं। उनको मेरे घर से घृणा नहीं थी। बालकों का भाव समान

होता है। वे प्रेम का स्वाभाविक आदान-प्रदान जितना अच्छा जानते हैं, उतना बड़ी अवस्था वाले स्त्री-पुरुष नहीं। उन्हीं बालिकाओं से लक्ष्मीदेवी ने लम्बी साड़ी कच्छदार पहनना सीख लिया, और खासी महाराष्ट्र महिला बन गईं। पाठक मेरी सहयोगिनी का जो चित्र इस लेख के साथ देख रहे हैं, उसमें वे महाराष्ट्र साड़ी पहने हुए हैं।

इधर लक्ष्मीदेवी का वेष बदल गया; और उधर हम को संयोगवश दूसरे बाड़े में जाना पड़ा। इस बाड़े में सिर्फ़ मकान-मालिक का ही कुटुम्ब रहता था। मालकिन बहुत ही साध्वी थीं। यह कुटुम्ब बहुत शीघ्र हमारे परिवार से मिल गया; और फिर तो लक्ष्मीदेवी महाराष्ट्र-स्त्रियों में खूब हिल-मिल गईं; परन्तु हिन्दी भाषा हम लोगों ने कभी नहीं छोड़ी। महाराष्ट्र-स्त्रियाँ और बच्चे हमारे कुटुम्ब और लक्ष्मीदेवी के सम्पर्क से, स्वयं हिन्दी बोलने लगे। उत्तर भारत के रीति-रिवाज, तीर्थ-स्थान, इत्यादि बातों की तीव्र जिज्ञासा से प्रेरित होकर लक्ष्मीदेवी से उनकी संगिनी धीरे-धीरे टूटी-फूटी हिन्दी बोलने लगीं। घर में जो छोटे-छोटे बालक और बालिकाएँ आती थीं; वे भी हिन्दी बोलने लगी थीं।

छोटी बच्ची विद्यादेवी (शोक है कि वह विवाह के बाद १७ वर्ष की अवस्था में ही स्वर्गवासिनी हो गई) को उसकी माता ने, तीन ही वर्ष की उम्र में खेल-खेल में अक्षर-ज्ञान कराया; और उसी अवस्था में वह पुस्तक भी पढ़ने लगी थी। ईश्वर-प्रार्थना के अनेक वेदमंत्र कंठस्थ हो गये थे। माताएँ यदि चाहें, तो अपनी सन्तान को बहुत सहज में अक्षर-ज्ञान कराकर शिक्षित कर सकती हैं।

सन् १९१३ में मैं 'आर्यमित्र' का सम्पादक होकर आगरे आया। यहाँ तीन वर्ष आर्यसमाज के द्वारा लक्ष्मीदेवी देश और समाज की कुछ-कुछ सेवा करती रहीं; उस समय आगरा-स्त्री-समाज की प्रधाना श्रीमती राधादेवीजी, मंत्राणि श्रीमती श्यामादेवी और कोषाध्यक्षा मेरी सहयोगिनी श्री लक्ष्मीदेवी थीं। वेदमंत्रों के साथ हम लोग सकुटुम्ब संध्या, हवन, इत्यादि नित्य-कर्म किया करते थे, जिससे अनेक वेदमंत्र लक्ष्मीदेवी और मेरी लड़कियों को कंठाग्र हो गये। सन् १९१६ में हम लोग फिर पूना चले गये; और वहाँ हिन्दी का स्कूल खोलकर फिर दो वर्ष राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार करते रहे।

इसके बाद सन् १९१८ से लेकर अब तक बराबर प्रयागराज में रहते हैं। यहाँ भी लक्ष्मीदेवी को राष्ट्रीय कार्य करने का बराबर अवसर मिलता रहता है। मेरी आदत यह प्रारम्भ से ही रही है, कि घर की सहयोगिनी और सब परिवार को देश के आन्दोलनों का समाचार और उनका स्वरूप बराबर बतलाता रहता हूँ। यहाँ आने पर पहले पहल लक्ष्मीदेवी को राष्ट्रीय कार्य करने का उस समय अवसर प्राप्त हुआ, जब सन् १९१९ में संपूर्ण देश में जलियानवाला बाग के लिए चन्दा एकत्र किया गया। प्रयाग में बा० पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने इसका नेतृत्व लिया। टंडनजी ने मुझसे कहा कि 'वाजपेयीजी, आप भी अपने मुहल्ले दारागंज में इसके लिए कुछ रुपया इकट्ठा करें।' मैंने 'अच्छा' कह दिया। मैं घर आया; और दूसरे ही दिन से पुरुषों में चन्दा इकट्ठा करने लगा; और घर-घर जाकर स्त्रियों से चन्दा लाने के लिए लक्ष्मीदेवी को जोत दिया। लक्ष्मीदेवी ने मेरी राष्ट्रीय भावनाओं की सदैव रक्षा की हैं। वे समझती हैं कि देश की सेवा यदि उनके पतिदेव को पसन्द है, तो इसमें उनको भी योग देना चाहिए। उनमें देशभक्ति के भाव हैं; पर बहुत उग्र नहीं हैं। 'पति की आज्ञा है; और पति को यह कार्य प्रिय है; इसलिए हमको भी यह करना चाहिये।' इसी विशेष भाव से, मैं जिस काम में उनको जोत दूँ, वही करने लग जाती हैं। बस, मेरी आज्ञा पानी थी कि वे चादर ओढ़कर अपनी दोनों छोटी-छोटी बच्चियों को अपने साथ लेकर घर-घर कई दिन स्त्रियों में घूमती रहीं; और मैं जितना रुपया दूकान-दूकान जाकर पुरुषों से नहीं एकत्र कर पाया था, उतना—और उससे बहुत अधिक रुपया—जलियानवाला बाग के लिए आप स्त्रियों से माँग लाईं। टंडनजी को सब रुपया ले जाकर मैंने दिया, तो वे बड़े खुश हुए।

सन् १९२१ में जब महात्मा गान्धी का असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ और चरखे का देश-

व्यापी प्रचार करने की आवश्यकता हुई, तो मैंने लक्ष्मीदेवी से कहा, कि अब तो चर्खा तुम को भी कातना चाहिए। लक्ष्मीदेवी ने कहा कि चर्खे को तो हमारे वंश में आन है। चर्खा वाजपेयियों में नहीं छुआ जाता। यदि छू लेवें, तो पुराने कहते आये हैं कि दरिद्री हो जावें। उन्होंने यह भी बतलाया, कि एक बार लड़कपन में उन्होंने खेल में अपनी माता का चर्खा चलाना शुरू कर दिया, तो माता ने बड़े ज़ोर से यह कहकर बरजा, कि—'तू चर्खा मत चला, वाजपेयियों में, जिनके घर तेरा ब्याह हुआ है, चर्खे की आन है।' इस पर मैंने लक्ष्मीदेवी को समझाया कि 'कोई परवा नहीं, यदि हम चर्खा ग्रहण करने से दरिद्री हो जावें। चर्खे के छोड़ने से हमारा देश दरिद्री हो गया है; इसलिये देश के सम्पन्न होने के लिये हमें चर्खा ग्रहण करना चाहिये। तुम अपने लिये चर्खा न कातो; बल्कि देश की पुकार है; इसलिये देश के लिये कातो। इससे तुम पर और तुम्हारे कुल पर कोई प्रायश्चित्त नहीं आवेगा।' बस, लक्ष्मीदेवी की समझ में यह बात तुरन्त आ गई और उन्होंने चर्खा चलाना शुरू कर दिया। मेरी छोटी-छोटी लड़कियों ने भी खूब चर्खा चलाया, सब ने मिलकर दस-बारह सेर सूत तैयार किया। मेरे घर से तमाम मुहल्ले में चर्खा फैलने लगा। कुछ दिन के लिये मैं बाहर प्रचार कार्य पर रहा, फिर मैं भी दारागंज में ही आ गया और चर्खे बनवा-बनवाकर घर-घर देने लगा और लक्ष्मीदेवी और मेरी दोनों लड़की (स्वर्गीया विद्यादेवी और चिरंजीविनी मित्रादेवी) घर-घर जाकर स्त्रियों को चर्खा सिखलाने लगीं। 'तिलक-स्वराज्य फंड' एकत्र करने में भी इन तीनों ने अच्छा काम किया।

इसके बाद मेरी सहयोगिनी लक्ष्मीदेवी काश-श्वास के रोग से विशेष पीड़ित रहने लगीं। आज दस-ग्यारह वर्ष से इन्हें यह कष्ट है। इधर-उधर के बहुत से इलाज किये गये; और बराबर दवा चलती रहती है; पर स्थायी रूप से कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इधर कई वर्ष से अधिकांश रोग-शैया पर ही रहती हैं। कमज़ोरी दिन-पर-दिन बढ़ रही है। अब बाहर घूमकर कोई देश-सेवा करने के योग्य नहीं हैं। ज्यादा चल-फिर नहीं सकतीं। फिर भी गत वर्ष के सत्याग्रह-आन्दोलन में आपने यथा शक्ति अच्छा भाग लिया था। मैंने दारागंज में सत्याग्रह आन्दोलन के प्रत्येक अंग को, अर्थात् पिकेटिंग, प्रभात फेरी, जलूस, स्त्रियों का संघटन, घरों में चर्खा प्रचार और यहाँ तक की बुनाई का एक छोटा-सा कारखाना भी चला दिया था। मुहल्ले की स्त्रियाँ पहले जलूस में नहीं निकलती थीं। तब मैंने अपनी रोगिणी सहयोगिनी लक्ष्मीदेवी और अपनी विवाहिता कन्या चि० मित्रादेवी और कुमारी लीलावती, तथा सब से छोटा पुत्र चि० सोमदेव (अवस्था ६-७ वर्ष) सारे कुटुम्ब को अपने साथ जुलूस में निकाला; और घर-घर जाकर स्त्रियों को उत्साहित किया, तब यहाँ स्त्रियाँ भी जलूसों और सभाओं में भाग लेने लगीं। अपने सहयोगी कार्यकर्त्ताओं से हठ करके मैंने सभाओं में स्त्रियों को पुरुषों की बगल में बिठलाना शुरू किया; अन्यथा ये लोग स्त्रियों को सभा से दूर आड़ में बैठाते थे। मैंने पहले अपने घर की स्त्री और लड़कियों को आगे बैठाया; और उनके जरिये से अन्य स्त्रियों को उत्साहित किया। परिणाम-स्वरूप गत आन्दोलन में इस मुहल्ले ने अच्छा भाग लिया।

मैं पाच-छः मास लगातार कार्य करके तब छः मास के लिये जेल गया। मेरी सहयोगिनी मेरे एक दिन के वियोग से भी दुखी हो जाती हैं; क्योंकि अब बीमार पड़ी रहती हैं; और बच्चे छोटे हैं। घर में मेरे सिवाय अब और कोई इनको सम्हालने वाला नहीं है। मेरी बड़ी पुत्री चि० मित्रादेवी की शादी हो गई है; पर माता की बीमारी में वह प्रायः यहीं रहती है; और गत वर्ष मेरे जेल में रहते समय मेरी 'तरुण-भारत-ग्रन्थावली' का भी थोड़ा-सा काम मित्रादेवी ने ही सम्हाला था। जब मैं गिरफ्तार हुआ, तो शाम को मुहल्ले में स्त्री-पुरुषों की बड़ी भारी सभा हुई। उसमें अशक्त, रुग्ण लक्ष्मीदेवी भी कुछ व्याख्यान देने को खड़ी हो गईं; पर थोड़ी देर में ही उनको हृदय की कमज़ोरी से, काश का ज़ोर हो जाने पर, बैठ जाना पड़ा। फिर भी मेरे जेल से वापस आने तक आपने बराबर घर में चर्खा जारी रखा; और मैं जब वापस आया, तो बहुत-सा घर का कता हुआ सूत मुझे पचास-साठ गज कपड़े के रूप में दिखलाया, जो दारागंज के मेरे चलाये हुए कारखाने में ही बुना गया था। मेरी अनुपस्थिति में

मेरे कई मित्र इस कारखाने को चलाते रहे ; और लक्ष्मीदेवी भी समय-समय पर उसको देखती रहती थीं।

लेख बहुत लम्बा हो गया। जन्म से लेकर अब तक मेरी पैंतालीस वर्ष की 'आत्मकथा' बहुत लम्बी है। उसमें से थोड़ा-सा अपना गार्हस्थ्य-जीवन मैंने दिखलाया है। अपनी सहयोगिनी की थोड़ी-सी स्मृति लिखने का मेरा उद्देश्य सिर्फ इतना ही है, कि हमारे नवयुवक यदि अपने निजी और सार्वजनिक दोनों जीवनों में अपनी सहयोगिनी को भी साथ लेकर चल सकें, तो वे बहुत-सा कार्य कर सकते हैं ; परन्तु इसमें मुझसे एक भूल हुई है ; और वह यह कि मैंने अपने निजी और सार्वजनिक दोनों जीवनों में अपनी सहयोगिनी के साथ बहुत कठोरता का वर्ताव किया है। इसी का यह परिणाम है कि हम दोनों पैंतालीस वर्ष की अवस्था में ही साठ वर्ष के से वृद्ध हो रहे हैं ; और लक्ष्मीदेवी तो बिलकुल अशक्त होकर अधिकतर चारपाई पर ही पड़ी रहती हैं। फिर भी घर का थोड़ा-सा कार्य अब भी करती ही जाती हैं। मेरी आर्थिक दशा ऐसी कभी नहीं रही कि नौकर-चाकर रखता ; और न इस समय है। इसलिए नवयुवकों को मेरी सूचना है, कि यदि वे अपनी सहयोगिनी को सार्वजनिक जीवन में अपने साथ लें, तो गार्हस्थ्य जीवन का बोझ उसके ऊपर विशेष न रखें, नहीं तो दोनों जीवनों में स्त्री को अपने साथ ही लगाये रखने से उस पर बड़ा अत्याचार होगा।

मैं क्यों न रो पड़ूँ

मैं क्यों न रो पड़ूँ ?

जब यह सारी प्रकृति और संपूर्ण विश्व एक महान रुदन से भरा हुआ है, तब मैं भी क्योंन रो पड़ूँ?

वह देखो, सरिता का सुन्दर सलिल कल-कल नाद में अपना रुदन व्यक्त कर रहा है। उसे अवश्य व्यथा है, दुःख है और विषाद है ; पर वह विषाद किस लिए कर रही है। लो, तुम इतना भी नहीं समझे कि उसे किसका दुःख है ? जिस पर्वत-माता ने उसे बड़े वात्सल्य के साथ अपने हृदय में छिपाया हुआ था और जिन उपत्यकाओं ने बड़े प्यार और दुलार के साथ इसे थपकियाँ दी थीं, उसीके वियोग में यह सरिता रुदन करती हुई अपने जीवन-पथ पर चली जा रही है।

तुम नहीं जानते इसका रुदन कितना प्रभाव रखता है। इसकी अश्रुधारा में कितनी शक्ति विद्यमान है ? यदि देखना चाहो, तो सरिता के तीर पर और उसके मध्य में पड़े हुए उन पत्थरों को निहारो !! उन तीक्ष्ण और नोकीले पत्थरों को इसी की अश्रुधारा ने गला-गला कर गोल बना दिया है, उनकी धारें काट गिराई हैं।

यह है आँसुओं की शक्ति !

तो फिर मैं भी क्यों न रो पड़ूँ ?

अमावस्या की निशा आती है। सर्वत्र कालिमा और नीरवता का साम्राज्य छा जाता है। ऐसे स्तब्ध समय में आस्मान का रुदन प्रारंभ होता है ! उसका यह रुदन उषा के उदय तक होता रहता है। प्रभात में उठकर क्या देखता हूँ ? सारी वसुधा आकाश के अश्रुओं से—ओस बिन्दुओं से—भरी पड़ी है। क्या आकाश का यह रुदन व्यर्थ है ? नहीं ! तुम जानते हो उसमें क्या सामर्थ्य है ?

उसने उन रंग-बिरंगे और नन्हे-नन्हे फूलों के मुखड़े खोल दिए ! उनको जीवन-रस पिला दिया ! जिसे पीकर वे मस्त होकर पत्तों के हरे-हरे गहने पहन कर नाचने लगे !! यह है अश्रु की शक्ति !!

तो फिर मैं भी क्यों न रो पड़ूँ ?

श्रावण का महीना आया ! अन्तरिक्ष में काली बदलियाँ छाने लगीं ! यह क्यों कर ? रुदन के लिए !

मेघ ने मीठे अश्रु बहाकर रोना प्रारंभ किया ! इन मीठे अश्रुओं को पीकर पपीहे की आत्मा जाग उठी ! मयूर का मन नाच उठा, लता-पल्लवों के शरीरों में चैतन्य का संचार होगया। सरिताओं की मर्यादा टूट गई !!

अरे ! इतना ही नहीं ! मेघ की अश्रुधाराओं ने उषा के तेजस्वी पुत्र सूर्य की तेज धाराओं को भी रोक दिया ! दिन की रजनी बना दी ! यह है मेघ के अश्रुओं का सामर्थ्य !

प्रकृति की सब वस्तुएँ जब अपने अश्रु बहा रही हैं, तब मैं भी आँसू बहाकर क्योंकर न रो पड़ूँ ?

शंकरदेव विद्यालङ्कार

मेरी विचित्र कहानी

लेखक—श्रीयुत जगन्नाथ खन्ना, बी० एस-सी०

मेरे कॉलेज के अमेरिकन प्रोफेसर अपने देश को छुट्टी पर जा रहे थे। आप बड़े हँसमुख थे। एक दिन लेक्चर में कहने लगे कि विद्यार्थियों में कौन-सा ऐसा साहसी है, जो उनके साथ अमेरिका जाने को तैयार हो सकता है। मैंने खड़े होकर कहा, कि मैं तैयार हूँ ; पर मेरे पास रुपये नहीं हैं। इस पर उन्होंने कहा, कि यदि तुम ४००) रुपये ले आओ, तो मैं तुम्हें अमेरिका अपने साथ ले जाकर किसी युनिवर्सिटी में दाखिल कर दूँगा।

उस दिन से मेरी लगन अमेरिका जाने की लगी। मैंने बहुत कोशिश की, कि कहीं से चार सौ मिल जावें ; पर सफल न हुआ। मेरे पिता बहुत गरीब थे और बड़ी कठिनाई से अपने परिवार का निर्वाह करते थे। उनसे सहायता की आशा बिलकुल नहीं थी। रिस्तेदारों में भी ऐसा कोई नहीं था, जिससे कुछ भी धन की सहायता की आशा की जा सकती। मित्रों और धनवान बिरादरी के लोगों से बहुत प्रार्थना की ; पर सफलता बिलकुल नहीं हुई। अंत में प्रोफेसर साहेब से हताश होकर कहना पड़ा, कि चार सौ के जगह बीस रुपये भी जमा न कर सका और वह हँसकर छुट्टी पर अपने देश को चलते बने।

यद्यपि उस समय मुझे असफल होना पड़ा ; किन्तु मेरी लगन अमेरिका की ओर ऐसी लगी कि रात-दिन मेरा ध्यान विदेश-यात्रा की ओर रहने लगा—पढ़ने में दिल बिलकुल नहीं लगता। भाग्य-वश इलाहाबाद की प्रदर्शनी आई। मुझे बिजली के विज्ञान से अधिक शौक था। अपने प्रिन्सिपल की सहायता से प्रदर्शनी के बिजली-विभाग में ५०) मासिक की नौकरी मिल गई। बिजली के खम्भे और तार लगाने में आठ महीने बड़ी मेहनत से बिताये और एक दिन ४००) नगद जेब में लेकर प्रिन्सिपल साहेब के पास पहुँचा।

मेरे प्रिन्सपल भी अमेरिकन थे और मुझसे बहुत प्रेम करते थे। उनसे जाकर मैंने अमेरिका जाने की अपनी अभिलाषा कह सुनाई—उन्होंने बड़े प्रेम से सुना और मुझे उत्साहित कर बोले, कि तुम कल सवेरे छः बजे मेरे बँगले पर आना। दूसरे दिन ठीक छः बजे मैं उनके बँगले पर पहुँचा। वह अपनी मेज पर बैठे काम कर रहे थे। मुझे इतना मुस्तैद देख बड़े प्रसन्न हुए और एक पत्र लिखकर मुझे दिया और बोले कि इसे होशियारी से अपने पास रखना और अब आज ही डाकगाड़ी से बम्बई के लिये रवाना हो जाओ। वहाँ इटली के किसी जहाज के तीसरे दर्जे का टिकट लेकर अमेरिका के लिये रवाना हो जाना। न्यूयार्क पहुँच कर रेल द्वारा पिट्सबर्ग नगर में जाना और वहाँ पहुँचकर पिट्सबर्ग युनिवर्सिटी के चोन्सलर को यह पत्र देना। वह मेरे बड़े मित्र हैं, तुम्हें बड़ी सहायता देंगे। धन्यवाद देकर मैं अपने घर वापस आया।

जब घर वालों और मित्रों को मैंने अपने अमेरिका जाने की खबर सुनाई, तो सब हँसने लगे और मुझे पागल समझकर कहने लगे कि बिना यथेष्ट धन और सामान के अमेरिका की यात्रा कैसे हो सकती है। उनकी तरफ ध्यान न देकर मैं बाजार से चार आने का एक कपड़े का बेग लाया और उसमें एक पुरानी कमीज और कुछ मिश्रित सामान रख दोपहर की डाकगाड़ी से बम्बई की ओर चलता बना। कुछ रिस्तेदार मेरे साथ स्टेशन तक यह देखने आये, कि मैं वास्तव में बम्बई जाता

हूँ या नहीं ; पर जब उन्होंने यह देखा कि मैं गाड़ी में तीसरे दर्जे का टिकट लेकर बैठ गया और गाड़ी चलने लगी, तो हँसकर कहने लगे कि तुम दस दिनों में फिर वापस आ जाओगे।

अपनी प्यारी जन्मभूमि पवित्र प्रयाग नगरी को छोड़ने पर मेरे भी आँसू आ गये ; पर हृदय को मजबूत कर किसी प्रकार तीसरे दिन बम्बई पहुँचा और स्टेशन से एक विक्टोरिया में बैठ सीधा आर्यसमाज मन्दिर पहुँच गया। वहाँ एक खाली कमरे में अपना बेग और दरी का बन्डल रख दामल कुरू के दफ्तर को गया। वहाँ २७½ रुपये देकर इटेलियन जहाज का, एक तीसरे दर्जे का, न्यूयार्क के लिये टिकट खरीदा। फिर एक हिन्दू-विश्राम-गृह में रोटी खा, आर्यसमाज-भवन में आकर विश्राम किया।

देशाटन भी हृदय के अन्धकार को मिटाने में बड़ी सहायता करता है। देशाटन शिक्षा का एक बड़ा अंग है। केवल बम्बई में ही आकर मेरी कितनी आँखें खुलीं। अबतक मैंने सिनेमा कभी न देखा था। बम्बई पहुँचकर एक दिन मैंने चार आने का एक टिकट लिया और एक सिनेमा में पहुँचा। खामोश तसवीरों को तरह-तरह के तमाशे करते देख मुझे कितना आश्चर्य हुआ। उस समय मेरी समझ में नहीं आया कि यह अजीब लीला किस प्रकार होती है।

दूसरे दिन एक हैट, एक सस्ता सा सूट, दो कमीजें, एक नेकटाई, एक जोड़ी जूते, कुछ साबुन इत्यादि समान खरीदकर जहाज के चलने की तिथी की बाट देखने लगा। आखिर २८ अगस्त १९११ के सवेरे बन्दरगाह पर पहुँच तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की कतार में खड़ा हो गया। मेरा अक्षर आने पर डाक्टर साहब ने मेरी परीक्षा की और तब मैं जहाज पर जा खड़ा हुआ। जहाज के एक मल्लाह ने मुझे नीचे ले जाकर एक गन्दे से स्थान में, कतार में लटके हुए टाट के एक पलंग को बताकर मुझे अपने सामान के रखने को कहा। वहाँ सामान रखकर मैं फिर जहाज की छत पर आकर खड़ा हुआ। थोड़ी देर बाद जहाज ने अपना लंगर उठाया और मुझे पश्चिम की ओर ले चलने लगा। मालाबार-हिल के टीलों को धीरे-धीरे गायब होते देख मेरी आँखों में आँसू आ गये और अपनी जननी जन्मभूमि को प्रणाम कर मैं भारत से विदा हुआ।

(७४ वें पृष्ठ का शेषांश)

है, उसकी बहन बीमार है—दवा को पैसे नहीं थे, अब दवा आवेगी और वह अच्छी हो जायगी—कुन्जू खुशी हो जायगा और मेरे साथ फिर खेलेगा ; परन्तु यह भाव स्वप्न की तरह अस्पष्ट था—खिलौना न प्राप्त होने का दुःख स्पष्ट तथा प्रबल था।

मैं उदास भाव से घर आया। माताजी ने पूछा—'खिलौना ले आया ?' मैंने कहा—'नहीं।'

'रुपये क्या किये ?'

पहले कहने का साहस न पड़ा ; परन्तु जब माताजी ने डाँटा, तो मैंने साफ-साफ़ कह दिया कि रुपये कुन्जू की माँ को दे आया।

माताजी को विश्वास न हुआ—उन्होंने कुन्जू की माँ से पुछवाया। उत्तर देने के लिए वह स्वयं दौड़ी आई और उसने सब वृत्तान्त कहा और फिर आशीर्वादों की वर्षा आरम्भ की।

माताजी ने उसी समय पुनः मुझे दो रुपये दिये—मैं प्रसन्नता-पूर्वक खिलौना ले आया। इस बार सीधा दूकान को गया—किसी मित्र से जिक्र तक न किया, कि कहीं फिर न छिन जाँय ! जब मुझे खिलौना प्राप्त हो गया, तब मैंने स्पष्ट रूप से यह बात समझी कि मैंने कुन्जू की माता को रुपये देकर अच्छा काम किया।

कल की बात

लेखक—श्रीयुत अन्नपूर्णानन्दजी

समय जाते देर नहीं लगती। पन्द्रह वर्ष बीत चुके ; पर जान पड़ता है कि अभी कल की बात है। सन् १९१६ में मैं तीसरी बार इन्ट्रेन्स की परीक्षा देने बैठा था।

दो साल मैं लगातार फेल हो चुका था। और चीज़ों में मैं ज्यों-त्यों पास भी हो जाता ; पर गणित का विषय मुझे अन्त में ले डूबता। छोटे दर्जों में भी इसने मेरे रास्ते में रोड़े अटकाये ; परीक्षाओं में इसने मेरे साथ सदा अड़ङ्गानीति से काम लिया ; पर मैं किसी-न-किसी करवट से दर्जा बराबर चढ़ता ही गया। इन्ट्रेन्स में पहुँचना था कि यह मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ गया।

लोगों का ऐसा ख़याल था—और अब भी है—कि प्रतिभा नाम की चीज़ मेरे बाँटे कभी पड़ी ही नहीं ; पर मैं इसे मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। ऐसा सोचना भी मेरे-ऐसे व्यक्ति के प्रति घोर अन्याय करना है। जिसने सातवीं कक्षा में 'पेट' पर निबन्ध लिख लाने की आज्ञा पाकर यह दोहा लिखा हो—

नित रितवत नित के भरत, जिमि चुअना कंडाल। इति न होत अति अजब गति, पेट गजब चंडाल।

हाँ, इतना मैं स्वयम् कहूँगा, कि मेरी प्रतिभा सर्वतो मुखी नहीं थी। गणित की ओर से वह रूठी हुई दुलहिन-सी मुँह फेर लेती।

ख़ैर, गणित की कृपा से दो साल फ़ेल होकर तीसरे साल मैं फिर इन्ट्रेन्स की परीक्षा देने बैठा। गणित के ज्ञान से अब भी बिल्कुल कोरा था ; पर परीक्षा देने चला गया। एक आदत-सी पड़ गयी थी, जो परीक्षा-भवन तक मुझे खींच ही ले गयी।

गणित का पर्चा मेरे सामने रख दिया गया। पर्चा पढ़ने के पहले मैंने त्रिकुटी में ध्यान लगाकर ईश्वर से प्रार्थना की कि 'हे प्रभो ! आनन्ददाता ज्ञान मुझको दीजिये' कि मैं दो-एक सवाल तो ठीक कर सकूँ—और नहीं तो 'शीघ्र सारे गार्डों को दूर मुझसे कीजिये' कि मैं आसानी से नक़ल ही कर सकूँ।

इसके बाद मैं पर्चे को एक बार पढ़ गया। पढ़ते ही ऐसी इच्छा हुई, कि अपना सर खुजलाऊँ, फिर मैंने सोचा कि पर्चे को दुबारा पढ़ लूँ, तब निश्चिन्त होकर सर खुजलाना शुरू करूँ। मैंने यही किया, दुबारा पढ़ गया। दुबारा पढ़ डालना महज़ एक रस्म की बात थी ; अगर सौ बार भी पढ़ता, तो इसी नतीजे पर पहुँचता कि इस कम्बख़्त पर्चे का एक सवाल भी मेरे लिये नहीं बनाया गया है।

मैंने क़लम को कान पर चढ़ा लिया और हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहा। मनमें उस परमात्मा का गुणगान करने लगा जिसने गणित, गोजर और गण्डमाला ऐसी चीज़ें संसार को दीं। निराशा और निस्सहायता के भाव मेरे मन-मुकुर को धूमिल करने लगे।

और परीक्षार्थियों की क़लमों ने घुड़दौड़-सी मचा रक्खी थी ; पर मेरी क़लम अभी तक टस से मस भी न हुई। कान पर से उतारकर मैं उसे कापी के सामने ले आया ; पर उसने आगे बढ़ने से कड़ाई इनकार कर दिया। मैं हिम्मत न हारा और क़लम सम्हाले बैठा ही रहा। मुझे इस तरह बैठा देखकर एक गार्ड ने कहा—'क्यों व्यर्थ कापी को क़लम से धमका रहे हो ?'

मैं चुप रहा। कहाँ तो मेरे गले में फाँसी पड़ी है और कहाँ इन्हें हाँसी सूझ रही है ! अपना वक्त सब कुछ कराता है। न मैं ऐसा होता, न ये मेरे ऊपर अपनी ज़बान माँजते !

मैं कभी पर्चे की ओर देखता था, कभी कापी की ओर, और कभी क़लम की ओर ; पर तीनों

ढाक के तीन पात की तरह अलग ही नज़र आते ! इन तीनों का अस्तित्व एक दूसरे का विरोधी जान पड़ता था। मैंने कापी से कई बार अपनी लेखनी का साक्षात कराया ; पर कुछ काम न निकला।

मैंने 'देवता, पित्तर, भुंइया, भवानी' सबको मनाया ; पर किसी ने स्थिति को सुलझाने की कोशिश न की। मैंने आध घण्टे के अन्दर क़लम में चार नयी निबें लगायीं, कि शायद इसी तरह उसकी अकर्मण्यता दूर हो ; पर सब उपचार व्यर्थ गये। मैंने सोचा कि लाओ पर्चे को कापी पर नक़ल कर दूँ और घर का रास्ता लूँ ; पर 'जब तक साँस तब तक आस' ने ऐसा न करने दिया। मेरी इस समय ऐसी दशा थी कि परीक्षक महोदय यदि मेरे सामने आ खड़े होते, तो मैं उन्हें मामा पुकार बैठता—सुना है कि साँप को भी मामा पुकारे, तो उसे दया आ जाती है।

जब मनुष्य निरुपाय हो जाता है, तब मूर्खता पर कमर कसता है। संकटापन्न अवस्था में अच्छे-अच्छे बुद्धिमानों की बुद्धि भी मोच खा जाती है, तो मेरी क्या बिसात, मैं तो अपने को किसी बुद्धिमान का इज़ारबन्द होने योग्य भी नहीं समझता !

मैंने जब अच्छी तरह देख लिया कि और कोई चारा नहीं है, तब यही निश्चय किया कि परीक्षक के नाम कापी में एक पत्र लिख दूँ और लिखकर घर का मार्ग पकड़ूँ।

ज्यों-ज्यों मैं ग़ौर करता था, मुझे एक यही कार्यक्रम समयोचित और उपयुक्त जँचता था। इस कार्यक्रम की विशेषता यह थी कि इससे हानि कुछ भी नहीं थी ; क्योंकि परीक्षक यदि मेरी धृष्टता से चिढ़ जाता, तो अधिक-से-अधिक मुझे फेल कर देता, पर यह कौन-सी नयी बात हो जाती। फेल होना तो यों भी मेरा 'परीक्षा-सिद्ध' अधिकार था। इसके विपरीत यदि मेरा पत्र पढ़कर दया से द्रवीभूत होकर वह कुछ नम्बर दे निकलता, तब तो परीक्षा-फल निकलने पर मैं-ही-मैं दिखायी पड़ता। यह कोई असम्भव बात नहीं थी ; परीक्षक बड़ा आदमी होता है, और सुना है, बड़े लोगों के 'दिल दरियाव' में अक़्सर—अनायास—दया की मौज उठने लगती है।

मैं इस पत्र में परीक्षक के बाल-बच्चों की ख़ैर मनाता और लिखता कि मेरी नौका मझधार में है और आप ही उसके खेवैया हैं। इन बातों के अतिरिक्त मैं एक बात बड़े मार्के की लिखने वाला था। वह यह कि इस साल मेरी शादी होनेवाली है, अगर फेल हो जाऊँगा, तो फिर न जाने कितने दिन के लिये शादी टल जायगी ; इसलिये यदि दया करके आप मुझे पास कर देंगे, तो अप्रत्यक्षरूप से आपको कन्यादान का भी फल होगा।

मैं सोच ही रहा था कि इस पत्र को लिखना शुरू करूँ, कि किसी ने धीरे से मेरे कंधे पर हाथ रक्खा। मैंने पीछे घूमकर देखा, तो एक गार्ड महाशय को खड़ा पाया। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि वे और गार्डों की तरह हृदयहीन नहीं जान पड़ते थे। उनकी दृष्टि में दया और स्पर्श में समवेदना थी।

वे चले गये, पर मेरे हृदय में आशा का संचार कर गये। मुझे निश्चय हो गया कि वे मेरे लिये कुछ करेंगे। यही हुआ भी। वे थोड़ी देर में टहलते हुए मेरे पास आये और बड़ी सफाई से एक सोखते का टुकड़ा मेरे पास फेंककर चल दिये।

मैंने उस सोख़ते के टुकड़े को बड़ी सावधानी से उलटकर देखा। उस पर पर्चे के दो सबसे कठिन प्रश्नों के उत्तर उनकी संक्षिप्त विधि के सहित पेंसिल के बहुत हल्के हाथ से लिखे हुए थे।

अब क्या था ! दो सवाल तो मैंने मार लिये। बाक़ी बच गये चार, कुल छः करने थे। इनसे कैसे निपटा जाय ! अब आगे की सुध लेनी थी। मेरे ऊपर अकारण कृपा करनेवाले गार्ड महोदय भी कहीं खिसक गये थे।

ठीक इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिसने मुझे सच पूछिये, तो क़तरे से दरिया कर दिया। मुझसे कुछ दूर पर मेरे ही स्कूल का एक लड़का बैठा हुआ था। वह यकायक खड़ा हो गया और बड़े उत्तेजित स्वर में अपने पासवाले गार्ड से बोला—'मास्टर साहब ! मास्टर साहब !! यह चौथा सवाल ग़लत छपा है।' गार्ड ने उसे डाटकर बैठा दिया। और सभी लोग उसकी बात पर अविश्वास की हँसी हँस पड़े।

पर मैंने इस मौक़े पर बड़ी समझदारी से काम लिया। मैं उस लड़के को बखूबी जानता था। गणित के ग्रंथों की सैकड़ों उदाहरण मालाएँ उत्तरों सहित उसके कण्ठस्थ थीं। ऐसा लड़का बिना कारण किसी प्रश्न को ग़लत नहीं बता सकता। मुझे विश्वास हो गया कि जब वह कहता है, तब प्रश्न अवश्य ग़लत होगा। बस, मैंने पन्ना उलट लिया और मार्जिन में प्रश्न नम्बर ४ दर्ज करके उसके सामने लिख दिया—'इस प्रश्न को कई बार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि यह ग़लत छपा है ; इसलिये इसके उत्तर निकालने की आवश्यकता नहीं है।'

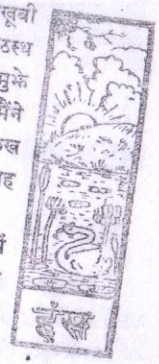

बाद को साबित हुआ कि उस लड़के ने ठीक कहा था। प्रश्न वास्तव में ग़लत छप गया था। सारी यूनिवर्सिटी में दस-ही-पाँच लड़के इस भेद को जान पाये थे, और उन लड़कों से परीक्षक बहुत प्रसन्न हुआ था। कहना न होगा कि उन्हीं दस-पाँच में मैं भी एक था।

कहाँ एक सवाल भी पहाड़ हो रहा था, कहाँ चुटकी बजाते मैंने तीन कर लिये। छः में तीन, पास होने के लिये काफ़ी थे ; इसलिये चिन्ता जाती रही और उत्साह बढ़ गया। मैंने सोचा कि जब क़िस्मत ने चर्राना शुरू किया है, तब उसे चर्राने का काफ़ी मौक़ा देना चाहिये। सम्भव है, किसी सूरत से, किसी ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा, किसी ओर से, किसी रूप में, किसी प्रश्न पर, किसी समय, कुछ भी प्रकाश पड़ जाय, कोई इशारा मिल जाय, तो कुछ नम्बर और बटोर लूँ।

मैं शेष प्रश्नों को बार-बार पढ़ने लगा। सिर्फ़ पढ़ना-भर हाथ लगता था ; पर तब भी मैं बार-बार पढ़ने से बाज़ न आया। एक प्रश्न दशमलव का था, जिसे मैंने दूरही से प्रणाम करके छोड़ दिया। मेरा विश्वास है कि भगवान रामचन्द्र ने बजाय दशानन के दशमलव का संहार किया होता, तो अगणित स्कूली छात्रों के धन्यवाद-भाजन बने होते। दूसरा प्रश्न ब्याज का था, जिसे मैं तुरन्त समझ गया कि इस जन्म में न कर पाऊँगा। तीसरा सवाल इस प्रकार था—

'एक घड़ी तीन बजे चलायी जाती है और ठीक सात बजे वह बन्द हो जाती है। बताओ कि इतनी देर में घड़ी की दोनों सूइयाँ एक दूसरे को किस-किस समय में पार करेंगी।'

ऐसे सवालों को करने के लिये अंकगणित में एक ख़ास तरीक़ा है, जिसे एक बार सीखने की कोशिश करने पर मुझे सौ बार तोबा करना पड़ा था। और किसी वक्त मैं इस प्रश्न की ओर फूटी आँख भी न देखता ; पर इस वक्त स्वयम् परमात्मा मेरी पीठ पर था और मुझे तदबीरों की फुरहरी सुँघा रहा था। जो प्रश्न मेरे लिये भरतपुर के क़िले से भी बढ़कर था, उसे मैंने आज यों सर किया। मेरे जेब में घड़ी थी। उसे मैंने निकाला। उसमें बारह बजे थे। मैंने उसमें तीन बजा दिये और फिर धीरे-धीरे सुई घुमाने लगा और देखने लगा कि दोनों सूइयाँ सात बजने तक कहाँ-कहाँ पर मिलती हैं।

यों मैंने छः में चार सवाल कर लिये। सूँछें तो उस समय थी नहीं ; पर जहाँ होनी चाहिये वहाँ का चमड़ा ऐंठता हुआ मैं उस दिन मकान आया।

दो महीने में परीक्षा का फल प्रकाशित हुआ। दुनिया ने देखा कि मैं पास हूँ। लोग आश्चर्य में डूबे, उतराये और अभचुभ हुए। किसी ने अन्धे के हाथ बटेर की कहानी याद की। किसी ने पत्थर पर दूब जमना स्वीकार किया। कई नास्तिकों ने ईश्वर को मान लिया। मैंने अपनी पीठ ठोंकी और कहा जीते रहो। जैसा मेरा राजपाट लौटा, वैसा ईश्वर करे सबका लौटे।

(९४ वें पृष्ठ का शेषांश)

साहित्य-सेवा की ओर मेरी रुचि बढ़ी। साहित्य के अगाध समुद्र को पार करके उसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती तक पहुँचा जा सकता है। वैसी मुझमें क्षमता नहीं। उस देवी में मेरी श्रद्धा है ; और उस अपार रसार्णव में अग्रसर होने की रुचि ; किन्तु सामर्थ्यरूप साधन का अभाव होने से विवश हूँ। केवल ध्यान लगाए उत्सुक प्रतीक्षा में बैठा हूँ, 'कभी वह दिन भी आयेगा, कि आँखें चार जब होंगी ?'

आत्म-कथा

लेखक—श्रीयुत प० ठाकुरदत्त शर्मा, कवि-विनोद, वैद्यभूषण

मैं ईश्वर को मानने वाला हूँ, और मेरा विश्वास है कि उसका अनुग्रह किसी भी महान कार्य्य की सिद्धि के लिए परमावश्यक है। परमेश्वर की यह कृपा थी कि मेरे द्वारा एक ऐसी औषधि का आविष्कार हो, जिससे जनता को लाभ पहुँचे; नहीं तो मेरे लिखने-पढ़ने तक का भी कोई प्रबन्ध न था। अल्पायु में ही विद्यानुराग न-जाने कैसे उत्पन्न हो गया था कि घर के पढ़ने में अड़चनें पड़ने पर भी मैंने एफ० ए० तक विद्याभ्यास किया। मिडिल में पढ़ते हुए ईश्वर जाने कैसे मुझे वैद्यक का शौक हो गया कि फालतू समय में बोर्डिङ्ग के सामने एक वैद्य से वैद्यक पढ़ना भी आरम्भ कर दिया। यह शौक बढ़ता गया और अन्तिम एफ० ए० में—यद्यपि वजीफा ले रहा था—मैंने कालेज छोड़कर वैद्यक पर ही अपना समय लगाया। जब काम करने का समय आया, तो घर से विरोध हुआ। वह नौकरी चाहते थे, मुझे वैद्यक से प्रेम था। मै लाहौर चला आया और अपनी धर्म्मपत्नी के चाँदी के कड़े बेचकर २७) से काम आरम्भ कर दिया। यह मेरी सारी पूँजी थी। रात-दिन परिश्रम किया—ईश्वर की अपार दया हुई, मेरा नाम तथा काम बढ़ने लगा।

स्कूल में पढ़ते हुए ही हृदय में यह महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई थी कि कोई ऐसी औषधि निकालनी चाहिए, जो लगभग बहुत-सी औषधियों का गुण रखती हो। उन्हीं दिनों इस प्रकार की एक औषधि बना भी ली थी। उस पर रात-दिन विचार करने लगा। उसकी परीक्षा की, घटाया-बढ़ाया, और सन् १९०१ में 'अमृतधारा' के आविष्कार की घोषणा कर दी। जिसने इसकी परीक्षा की वही अचम्भित हुआ। ऐसा कोई भी पुरुष न निकला, जिसने अमृतधारा को प्रत्येक घर में रहने योग्य औषधि न बताया हो। जो औषधियों के बक्स घर में रखते थे, उन्होंने इस शीशी से सबका काम लेना शुरू किया। जिसने एक बार इसको आजमाया, उसने सदा के लिए इसे अपना साथी बनाया। इसी वास्ते इसकी दिन-प्रति-दिन उन्नति होती गई। सन् १९०४ में 'देशोपकारक' पत्र जारी हुआ और सर्व-साधारण ने इस किंकर की योग्यता को सराहा। फिर तो सारे देश में अमृतधारा और उसके आविष्कार-कर्त्ता का नाम प्रसिद्ध होने लगा। उसके साथ ज्यों-ज्यों मेरी लेखनी से वैद्यक पुस्तकें निकलीं, त्यों-त्यों ख्याति और भी बढ़ती गई। इस समय तक २७ वर्ष से 'देशोपकारक' पत्र निकालने के अतिरिक्त लगभग ५ दर्जन पुस्तकें लिखी जाकर प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रभु की कृपा से दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति होती गई। ५) के किराए के मकान को छोड़कर फिर ४०) के किराए के मकान में आना पड़ा। और कई क्लर्क काम करने लगे। सन् १९१० ई० में एक नया मकान रेल्वे-रोड पर खरीदा गया, जिसका उद्घाटन-संस्कार चीफ कोर्ट पंजाब के जज सर प्रतुलचंद्र चैटर्जी के कर-कमलों से लाहौर के प्रतिष्ठित लोगों के एक बड़े जलसे में हुआ। सन् १९१४ ई० में मकान को और भी बढ़ाना पड़ा और एक विशाल भवन लाखों रुपए का तय्यार हुआ। इस दूसरे खंड का उद्घाटन लाहौर के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर मिस्टर एफ. डबल्यू कैनवे साहब ने वैसे ही जलसे में किया जिसमें सर मोहम्मद शफी साहब बैरिस्टर और राय बहादुर दीवान बहादुर कुंजविहारी थापर आदि महानुभावों की मनोरंजक वक्तृताएँ हुईं, जिनमें कार्य्यालय की जन-सेवा का वर्णन किया गया। इस विशाल भवन के पूर्व की ओर जो सड़क बनी है,

उसका नाम म्युनिस्पल कमेटी ने अमृतधारा-रोड रक्खा है और सामने एक कूचे का नाम ठाकुरदत्त स्ट्रीट रक्खा गया।

परमेश्वर की कृपा से इतना काम बढ़ा, कि जहाँ पहले एक ही आदमी दवाई बनाता, बंद करता, रोगियों को देता और बाहर भेजता था, अब दर्जनों कर्मचारी यह कार्य्य करने लगे और अमृतधारा व अन्यान्य औषधियाँ, जिनकी संख्या ४ सौ के लगभग है, इतनी अधिक बाहर जाने लगीं, कि डाक-विभाग ने अमृतधारा के नाम से एक डाकघर खोल दिया—पुस्तकों और सूची-पत्रों आदि की छपाई का काम इतना बढ़ गया, कि सन् १९१६ ई० में एक प्रेस भी खोलना पड़ा, जिसने बढ़ते-बढ़ते एक बड़े छापेखाने का रूप धारण कर लिया और जिसमें हर प्रकार की छपाई (लिथो, टाइप व ब्लाक) का काम घर और बाहर का किया जाता है।

सन् १९२४ में मैंने विलायत की यात्रा की, फिर १९२७ में पुनः यात्रा की, वहाँ जाकर क्या देखा और क्या पाया, उसका विवरण 'सैरे यूरोप' नामक पुस्तक के प्रथम और द्वितीय भाग में मैंने दे दिया है। यूरोप के सारे देशों में भ्रमण करके वहाँ की चिकित्सा-प्रणाली से अभिज्ञता प्राप्त करके, अब विद्युत-चिकित्सा के बहुत से यंत्र लाया हूँ और इस नूतन चिकित्सा-प्रणाली को भी जारी कर दिया गया है।

मैंने आयुर्वेद की सेवा करने की सदैव चेष्टा की है और मैं जब उस समय में, जब कि देशी चिकित्सा की ओर से लोगों की रुचि कम हो रही थी, इस समय की तुलना करता हूँ और देखता हूँ कि यथेष्ट रूप से लोगों की रुचि फिर इस ओर बढ़ रही है, तो मैं आनंदित होता हूँ; क्योंकि इस रुचि परिवर्तन में थोड़ा-सा मेरा भी भाग है, जिसका उल्लेख करने की मुझे आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

भगवान से यही प्रार्थना है कि देशी चिकित्सा की ओर लोगों की रुचि बढ़े। देशी चिकित्सा प्रणाली की उन्नति करने के लिए अच्छे-अच्छे कॉलेज अच्छे-अच्छे औषधालय स्थापित हों, जो कि अपने नूतन अनुसंधानों को सन्निविष्ट करके देशी चिकित्सा को उत्तम-से-उत्तम रूप में उपस्थित करें। मेरी तो अब यह प्रार्थना है कि वह अपनी भक्ति प्रदान करे और बहुत शीघ्र इस योग्य बनाए कि जीवन का तीसरा युग आरंभ हो।

कुछ विशेष उपयोगी बातें

'हंस' के सहकारी सम्पादकजी ने निम्न-लिखित प्रश्न करके लेख को पाठकों के लिये उपयोगी बनाने का यत्न किया है—

(१) आपके जीवन में विश्वास ने कहाँ तक साथ दिया है?
(२) आपने अपने साथियों का व्यवहार कैसा पाया और उनके साथ कैसा व्यवहार किया?
(३) विज्ञापन को आपने क्या समझा और उससे कैसा लाभ उठाया?
(४) आपने जीवन में सत्य का निर्वाह कैसा किया?
(५) आपने अपने स्वास्थ्य के लिये कैसी दिनचर्य्या का पालन किया?
(६) देशी औषधालयों के प्रति आप का क्या विचार है?
(७) आपने विलायत में क्या देखा, वहाँ की किस बात ने आपको प्रभावित किया?

यह प्रश्न बड़े गंभीर हैं। इनका उत्तर थोड़े शब्दों में भी हो सकता है और प्रत्येक के लिये एक पृथक लेख भी हो सकता है। नं० ५, ७ पर तो एक पुस्तक लिखी जा सकती है। नं० ७ का पूर्ण उत्तर हमारी लिखी 'सैरेयूरोप' नाम की पुस्तक में है। हम यहाँ पर थोड़ी-सी बातें इन दोनों प्रश्नों के विषय में पहले लिखना चाहते हैं।

यूरोप

यूरोप की किस बात ने सबसे अधिक प्रभावित किया, इसका कहना कठिन है; क्योंकि बहुत-सी बातों के प्रभाव मौजूद हैं। उनको तुला पर चढ़ाना आसान काम नहीं है। मैं इनमें से एक प्रभाव

लिख देता हूँ, जो कि मुझ पर हुए बड़े-बड़े प्रभावों में से एक है। प्रत्येक यूरोप जाने-वाले व्यक्ति पर प्रभावकरनेवाली एक चीज़ उनकी—

सामाजिक व्यवस्था

है। इसके कई उदाहरण है—(१) किसी जगह कोई धक्कम-धक्का दिखाई नहीं दिया। विशाल समूह भी जहाँ इकट्ठे देखे, वे स्वयम् ही एक ओर से जा रहे हैं एक ओर से आ रहे हैं। पिछला आगे जाने की कहीं कोशिश नहीं करता। मैंने स्टेशनों पर थियेटरों या सिनेमा पर बड़ी लम्बी-लम्बी कतारें लगी देखी हैं। जो आता है पहले के पीछे खड़ा हो जाता है; बारी-बारी से टिकटें लेता है। कोई बड़ा हो या छोटा; अफ़सर हो या नौकर, पंक्ति से आगे-पीछे नहीं होता। दूकानों में, बाज़ारों में, जलसो में, मीटिंगो में यही नियम काम करता है। रेलों में देखा कि जितने मनुष्यों के लिए स्थान है, उससे एक भी अधिक आ जाये, तो वह खड़ा तो भले रहे; परन्तु कभी किसी को मुख से यह न कहेगा कि मुझे भी बैठने को जगह दो। इस विषय में, हम अभी बहुत पीछे हैं। करोड़ों में अभी शहस्रों भी इस नियम का पालन नहीं करते। मेलों में, तीर्थों पर, बीसियों मृत्यु केवल इसके न होने से होती हैं।

दूसरे इनके खाने-पीने, पहनने के भी नियम हैं। संसार के किसी भाग में चले जाइये, यूरोपियन लोग कहीं भी हों, उनके खाने के नियम-काल वही होंगे। मैं देखता था कि गर्मी के दिनों में हमारे यहाँ के तीसरे पहर की भाँति सूर्य्य होता था कि उनका रात्रि का खाना समाप्त हो जाता था; क्योंकि सर्दी-गर्मी के समय में कोई अन्तर नहीं, चाहे दिनमान कितना ही बदल जाये। इसलिये वह चार या कभी छः बार खाते हुए भी इतने चौके में दिखाई नहीं देते, जितने हम दिखाई देते हैं। हमारे घरों में तो एक नव बजे खा लेता है, तो दूसरा एक बजे खाना उचित समझता है। घरवाली या नौकर प्रातः से लेकर दोपहर तक प्रातः के भोजन ही में लगे रहते हैं। इधर मेहमान जिस समय भी घर में आ जाये, यही समझता है कि भोजन तैयार मिलेगा। पहनना-ओढ़ना भी व्यवस्था के अनुसार होता है। अगर वेष बदलता है, तो सबका बदल जाता है। नियम में भंग नही होता।

काम करने में भी पूरी व्यवस्था काम करती है। जब काम का समय होता है, इतनी लगन से काम करते हैं कि चित्त प्रसन्न हो जाता है। एक होटल से मुझे एक नौकर स्टेशन पर छोड़ने ले जा रहा था। सारी लारी में मैं अकेला था। उससे कहा—'भीतर स्थान है, आ बैठो।' उत्तर दिया—'नहीं, मैं ड्यूटी पर हूँ।' सुकुमार मिलें भी ८-८ घन्टे खड़ी मशीन की भाँति कार्य्य करती हैं। काम करनेवाले बैठना जानते ही नहीं। जब कार्य्य का समय समाप्त हुआ, कि मनोरञ्जन के लिए वह पूर्ण स्वतंत्र हो जाते हैं और छुट्टी के दिनों में खेल-कूद, मन-बहलाव में समय लगाते हैं। छुट्टी प्रत्येक को आवश्यक है। घर के काम करनेवालों को भी सप्ताह में एक दिन छुट्टी चाहिये। इतिवार को रेलें भी कम चलती हैं और रेल के नौकर में भी, आधे एक सप्ताह में, आधे दूसरे सप्ताह छुट्टी करते हैं। स्वास्थ्य और स्वच्छता का मूल्य छोटे नौकरों को भी ज्ञात है। यूरोप में तो ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि मानो किसी मशीन को चाबी लगा दी है, जो विशेष नियमों के भीतर चलती-फिरती दिखाई देती है।

स्वास्थ्य-रक्षा

प्रश्न नं० ५ के विषय में मुझे इतना ही कहना है कि मैंने व्यायाम तथा सादे, निरामिष भोजन को स्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझा और आज तक इस नियम का पालन करता हूँ। ५१ वर्ष की आयु में वैसे ही कार्य्य कर सकता हूँ, जैसे युवाऽवस्था में कर सकता था। अपनी शक्तियों को व्यर्थ व्यय न किया जाये, तो यह दोनों नियम मनुष्य को सदैव तरुण रख सकते हैं।

विज्ञापन के लाभ

प्रश्न नं० ३ का उत्तर यह है कि विज्ञापन तिजारत के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि

प० ठाकुरदत्त शर्मा, कविविनोद, 'वैद्यभूषण'

मि० ब्रेडलफोर्ड

प्राणी के लिये प्राण। विलायत वालों ने इससे बड़ा काम लिया है और दिन-दिन ले रहे हैं। यहाँ तक कि दान लेने के लिये भी अब विज्ञापन निकाले जाते हैं। मेरा अनुभव है कि सर्व प्रकार के विज्ञापनों में, पत्रों में विज्ञापन देना शेष सब विधियों से अधिक लाभ-दायक है; विज्ञापन को झूठे लोगों ने बदनाम कर दिया है। जो इसको विज्ञापन समझते हैं कि झूठी-सच्ची बातें लिखकर लोगों को धोका दिया जाये, वे अपने पैर में आप कुल्हाणी मारते हैं। ऐसी काठ की हंडिया बहुत देर नहीं चढ़ी रहती।

मेरा तो यह मत है कि विज्ञापन सुन्दर तो अवश्य हो; परन्तु सच्चा होना चाहिये। मैं तो विज्ञापन लिखते समय इस बात का ध्यान रखता हूँ कि मेरे क़लम से कोई ऐसी बात न निकले, जिसको मैं असत्य समझता हूँ। सचाई से लिखे हुये विज्ञापन अधिक लाभदायक होते हैं। आपके प्रश्न नं० ४ का उत्तर भी इसी में आता है। जहाँ तक संभव हुआ लेन-देन में मेरा व्यवहार सदा से निर्दोष ही रहा है।

शेष प्रश्नों के इससे भी संक्षिप्त उत्तर हो सकते हैं। साथियों या कार्य्य-कर्त्ताओं के व्यवहार अच्छे-बुरे दोनों रहे। मैंने अपने हृदय से किसी के साथ बुराई करने की कोशिश नहीं की। न कभी हुकूमत का घमण्ड किया, न किसी का हक़ दबाने का विचार किया। ईश्वर पर विश्वास रखकर कार्य्य किया।

मैं देशी औषधालयों में बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता समझता हूँ। स्वच्छता एक आवश्यक अंग है, जो अति शीघ्र आनी चाहिये। हमारे कतिपय औषधालयों या चिकित्सालयों को देखकर बुद्धिमान मनुष्य यह समझता है कि इन को स्वास्थ्य का भी ज्ञान नहीं है। व्यवस्था और स्वच्छता हमारे जीवन का अंग बनना चाहिये।

(६८ वें पृष्ठ का शेषांश)

बहनों का व्यवहार जेल में देखकर बड़ा खेद हुआ। उन्हें अपने आराम और भोग के लिये जेल के आदमियों की खुशामद करने, यहाँ तक कि अधिकारियों को रिशवत देने में भी संकोच नहीं होता। धन की शोभा आत्म-पालन नहीं, परोपकार है। जो बहनें जेल जायँ, उन्हें त्याग और क्षमा तथा सेवा के आदर्श को हमेशा सामने रखना चाहिए।

पहले मेरा अनुमान था कि कचहरी-अदालत में सत्य का व्यवहार होता होगा। मुझे कभी अदालत में जाने का अनुभव न था। जब मेरी पेशी हुई, तो मैंने देखा कि मैजिस्ट्रेट के सामने कर्मचारी जितना झूठ बोलते हैं, उतना वेश्याओं के प्रेमी भी न बोलते होंगे। क्या अमले, क्या पुलीस, क्या गवाह, जान पड़ता है सबों का पेशा ही झूठ बोलना है। इस झूठ के लिये उन्हें कितना प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, भगवान ही जानें। मैजिस्ट्रेट साहब को तो कम-से-कम झूठ सुनने के लिये कई घंटे ईश्वर-भजन करते होंते होंगे। क़सम खाते हैं, हलफ उठाते हैं, कि सच ही बोलेंगे; पर सच का इस तरह तिरस्कार करते हैं, जैसे कोई नास्तिक ईश्वर था। मुझे कुछ तो हँसी आती थी, कुछ रंज होता था। न्याय के दरबार में नीच स्वार्थ और कुटिल मिथ्या की ऐसी गर्म बाजारी!

मैजिस्ट्रेट ने गवाहों के बयान सुनकर मुझसे पूछा—आप कुछ कहना चाहती हैं?

मैंने कहा—एक शब्द भी नहीं। इस झूठ के बाज़ार में मैं कुछ नहीं कहूँगी। आप जो सज़ा चाहें दे दें। शौक से काटने को तैयार हूँ।

मैजिस्ट्रेट ने तब फैसला सुना दिया।

मेरे साहित्यिक जीवन का प्रभात

लेखक—श्रीयुत शम्भूदयाल सक्सेना 'साहित्यरत्न'

उन्नीस सौ इक्कीस के किसी महीने में जब मैंने सरकारी विद्यालय की फाँसी गले से काट दी, तो दो व्यक्तियों को छोड़कर और सभी ने मेरे भविष्य की खोटी लिपि को बाँच-बाँचकर मेरी भूल का विज्ञापन अच्छी तरह दिया था। मेरे अध्यापकों को खेद था, मेरे हितैषियों और संबंधियों को खेद था; और अब भी किसे खेद न होगा यह कौन जाने? उन अपवाद-रूप दो व्यक्तियों में एक मेरे बड़े भाई थे और दूसरा मैं स्वयं। मुझे अपनी बुद्धि पर तो विश्वास नहीं था; पर अपने भाई साहब की बुद्धि पर पूरी श्रद्धा थी। उन्होंने बीसवीं सदी के आरम्भ के पहले से अख़बारों का मनन किया था, राजनीति के तत्वों का अनुशीलन किया था। अभी तक उनकी वही रफ़्तार है। मेरी भी उनके प्रति वही श्रद्धा है। उनके सामने अभी मैं उस विषय में 'क-ख' नहीं जानता।

उन्होंने कहा था—महात्माजी की असहयोग की स्कीम देश की अन्तर्आत्मा की झलक है। जो त्याग और तपस्या से अपने जीवन को पवित्र किया चाहते हों, उनके लिए यह अच्छा अवसर है। कष्ट और असुविधाएँ संसार नहीं चाहता। उनसे डरते हो, तो यह सब ठीक नहीं, अन्यथा अच्छे काम से मैं तुम्हें रोकता भी नहीं। मैं विद्यालयों को ही एक मात्र शिक्षालय नहीं समझता; लेकिन उनके साथ ही भावी सुखमय जीवन का मोह छोड़ना भी एक विचारणीय समस्या है।

मैंने उनके इंगित को पाकर वही कर डाला, जिसका जिक्र आरम्भ में कर चुका हूँ। मैंने उस समय पूरे मर्म को समझ लिया था। ऐसा तो मैं नहीं मान सकता; पर विद्यालय के वातावरण से फुरसत पाकर मेरे जीवन का लक्ष्य जैसे आप-ही-आप एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हो चला। मेरे साथियों ने फिर अपना पूर्वजीवन आरम्भ कर दिया। उनके भविष्य के सुनहले दृश्यों की झाँकी का आरम्भ मुझे अनेक हितैषियों की सलाह में मिल जाता था; किन्तु कभी अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करने की मेरी हार्दिक इच्छा न हुई।

अपने पुराने साथियों की प्रगति को देख-देखकर मुझे कुछ ऐसा मानने का अभ्यास-सा हो गया था कि मेरी शिक्षा की कमी किसी दूसरी तरफ़ से पूरी हो रही है। यद्यपि इसमें अहंकार की ही मात्रा विशेष थी। सार्वजनिक कार्यों में कष्ट के साथ-साथ जो आदर-सम्मान और यश प्राप्त होने लगते हैं, उनसे अपनी योग्यता पर आत्म-विश्वास जमने लगता है।

अभी तक बहुतों की राय में मैंने अपना जीवन बरबाद कर लिया है। किसी ऊँचे पद को सुशोभित नहीं कर पाया। अपनी विद्याबुद्धि से वंश की गौरववृद्धि नहीं कर पाया। सचमुच यदि उपर्युक्त अवसर प्रस्तुत न हो जाता, तो बहुत संभव था, साधारण लोगों पर मेरी हुकूमत का कोड़ा चल जाता। कारण कि मेरी बुद्धि कुशाग्र थी। दूर तक पहुँच थी। मेरे भोंदू साथी तक जो पागये, भला मैं उससे वंचित रह जाता? किन्तु मुझे उस खो देने में ही एक विशेष आनन्द हुआ है। वह आनन्द क्या और कैसा है, यह मेरे निकट अनिर्वचनीय है। उच्चपद की आकांक्षा के साथ मैंने पराधीनता को छोड़ दिया है। हुकूमत को छोड़कर मैंने सेवा को वरण किया है। अपनी बुद्धि से नहीं, भाई साहब की सहायता से। सेवा में संतोष और संतोष में आनन्द होता ही है।

हुकूमत के घोड़े पर चढ़कर सेवा में श्रद्धा रखना कठिन है। उससे पराङ्मुख होने पर ही

(शेषांश ८९ वें पृष्ठ के नीचे)

मेरा हिन्दी-उर्दू-सम्बन्धी अनुभव

लेखक—श्रीयुत इकबाल वर्मा, 'सेहर'

यों तो मुझे, कुछ-न-कुछ स्वाभाविक साहित्यिक रुचि रखने के कारण, साधारणतया सभी भाषाओं से अनुभूत अथवा अननुभूत प्रेम है; तथापि संयुक्तप्रान्त का निवासी होने के कारण उस प्रान्त की दो प्रमुख भाषाओं—हिन्दी और उर्दू—की ओर तो मेरी विशेष रुचि है। इस रुचि में और भी आधिक्य ही हो जाता है। जब मैं यह देखता हूँ, कि भारत की सार्वजनिक भाषा होने का श्रेय उस हिन्दुस्तानी भाषा को मिल चुका है, जो उपर्युक्त दोनों भाषाओं से बराबर का लगाव रखती है। कहने को तो आँग्ल-भाषा ने भी हमारे ही प्रान्त क्या, समस्त भारत के सुलभ्य एवं सुशिक्षित समाज में अपना एक स्थान प्राप्त कर लिया है—निस्सन्देह साहित्य की दृष्टि से वह एक अत्यन्त सुन्दर एवं उन्नत भाषा है और उसके अध्ययन एवं साहाय्य से अभी हमारे अनेक साहित्यिक अङ्गों की पूर्त्ति हो सकती है; परन्तु सार्वजनिक दृष्टि से, न वह प्रान्त की भाषा कही जा सकती है और न समस्त भारत की; अतः प्रस्तुत लेख का सम्बन्ध केवल उन्हीं भाषाओं से है, जो ग्रामीण एवं नागरिक, उभय दृष्टियों से सर्वोपयोगी एवं सर्वमान्य कही जा सकती है।

कायस्थ होने के कारण उर्दू-फ़ारसी से तो मुझे होश सँभालते ही वास्ता पड़ा था। मकतब में पढ़ चुकने के बाद जब अँगरेज़ी की पढ़ाई प्रारम्भ हुई, तब भी अँगरेज़ी के साथ उर्दू-फ़ारसी भाषाओं का ही अध्ययन जारी रहा। पढ़ना छोड़ने के बाद सन् १९१५ ई० तक मुझे हिन्दी आती भी थी, तो केवल उतनी ही, जितनी मुझे बचपन में, मकतब के अलावा, घर पर पढ़ा दी गई थी और जो पुस्तक या समाचार-पत्र पढ़ने-समझने भर को नहीं, तो आम बोल-चाल की भाषा में ख़त-किताबत भर को काफ़ी थी। इससे अधिक सीखने का कोई शौक़ भी न था। शौक़ था केवल रेनाल्ड्स, स्काट, लिटन इत्यादि प्रसिद्ध आँग्ल औपन्यासिकों के नावेलों और मोमिन, ग़ालिब, ज़ौक़ जैसे मशहूर उर्दू कवियों के 'दीवानों' (काव्य संग्रहों) के पढ़ने का; परन्तु संयोगवश सन् १९१५ ई० में ठाकुर रामनज़रसिंहजी (गौरा-निवासी) हथगाम-थाने में सब-इन्स्पेक्टर होकर आये। मुझे थाने-वाने से प्रायः कोई मतलब नहीं; पर यह सुनकर कि ठाकुर साहब बड़े साहित्य-प्रेमी हैं, मैं उनसे मिलने पर मजबूर हुआ। ठाकुर साहब के पास हिन्दी और अँगरेज़ी की भी ढेरों पुस्तकें थीं। उन्होंने मुझे हिन्दी के निमित्त विशेषतः प्रोत्साहित किया और पुस्तकें दीं। मैंने पढ़ना शुरू किया। मेरी दिलचस्पी बढ़ती गई। फिर तो मैं उनकी पुस्तकों से वर्षों तक (जब तक वह फ़तेहपुर-ज़िले में रहे) बराबर लाभ उठाता रहा। इन सब बातों के लिये मैं ठाकुर साहब का चिर कृतज्ञ रहूँगा। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि मैंने अधिकतर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज़'—बम्बई, और 'श्री नागरी-प्रचारिणी-सभा' बनारस की ही पुस्तकें पढ़ी थीं, जो वस्तुतः प्रशंसनीय हैं।

लगभग पाँच वर्षों के हिन्दी-पुस्तकावलोकन के पश्चात् सन् १९२० ई० में कानपुर से 'प्रभा' हिन्दी-मासिक-पत्रिका प्रकाशित हुई, और मैंने सर्व प्रथम अपना एक गद्य-लेख उसी में प्रकाशनार्थ भेजा, जो अस्वीकृत होने के साथ ही कुछ सम्पादकीय हिदायतों-सहित मेरे पास लौट आया। जिस खरी और कड़ी नीतिवाली पत्रिका द्वारा बड़े-बड़े लेखकों के लेखों का भी अस्वीकृत हो जाना असंभव न था, वहाँ मुझ-जैसे तुच्छ लेखक के प्रथम लेख की अस्वीकृति में निराशा की बात ही कौन थी। मैंने

फिर दूसरा लेख भेजा, जो मंज़ूर होने के साथ छप भी गया, और साथ ही मेरे लेखों के लिये अन्य मासिक-पत्रिकाओं में भी स्थान पाने का रास्ता खुल गया। मैंने 'सर्व-प्रथम' इसलिये लिखा कि उसके पूर्व तो मैं अपने टूटे-फूटे विचारों को यदा-कदा उर्दू कविताओं में ही व्यक्त किया करता था; और ये कविताएँ पहले 'अदीब' (इलाहाबाद) और 'ज़माना' (कानपुर) और फिर 'अदीब' के बन्द हो जाने पर 'ज़माना' में ही प्रकाशित होती थीं। अस्तु, एक और अजीब बात हुई। शनैः-शनैः मुझे हिन्दी-गद्य-लेखन से उर्दू-गद्य-लेखन का हौसिला हुआ और उर्दू-पद्य-लेखन से हिन्दी-पद्य-लेखन का; पर इतना और बतला देना ज़रूरी है कि कोई उर्दू शेर (पद) मौज़ूँ हो जाय, तो कभी-कभी सम्भव है कि उर्दू-काव्य के नियमानुसार उसमें कोई ग़ल्ती न निकले; परन्तु हिन्दी-पद्य-रचना के लिये हिन्दी-पिंगल का थोड़ा-बहुत जान लेना आवश्यक है, अन्यथा भद्दी भूलें हो जाने की सम्भावना सदा ही बनी रहती है। मुझे भी वैसा करना पड़ा, और अब हिन्दी-उर्दू गद्य-पद्य कामचलाऊ रीति पर लिख ही लेता हूँ; यद्यपि प्रथम अभ्यास के अनुसार हिन्दी-गद्य अधिक लिखता हूँ और उर्दू-पद्य।

इस सारे कथन का प्रयोजन यह, कि यदि किसी को उर्दू भाषा का साधारण ज्ञान हो, तो उसके लिये कम-से-कम उतनी ही हिन्दी सीख लेना कोई बहुत कठिन या परिश्रम साध्य कार्य नहीं। थोड़े अध्ययन एवं अध्यवसाय की आवश्यकता है। पुस्तकें पढ़ चलने पर कितने ही शब्दार्थों का बोध तो स्थान या प्रसङ्ग विशेष पर विचार करते हुए सिर्फ़ अटकल से हो जाता है, जो प्रायः ठीक होता है। एक तरकीब और है। पुस्तक पढ़ते जाइए और न जाने हुए स्थानों के नीचे और उन्हीं के सामने हाशिये पर, पेंसिल से ज़रा-ज़रा निशान लगाते जाइए, और फिर किसी हिन्दी जानने वाले से एकदम हाशिये के चिन्हों को देखते हुए शब्दार्थ पूछ लीजिए। हाशिये के चिह्न से उस शब्द का खोजना बहुत सुगम हो जाता है। मैं तो अपने अध्ययन-काल में इन्हीं दो तरीकों पर वाक़फियत हासिल करता था; परन्तु इनके सिवा एक मामूली हिन्दी-कोष से भी बड़ी मदद मिल सकती है। खेद है कि इसी प्रकार हिन्दी जाननेवाले के लिये उर्दू का सीख लेना सहल नहीं कहा जा सकता। कारण उर्दू-इमला वाली पेचीदगी है, जिसकी जानकारी के लिये कुछ अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। इस पेचीदगी को छोड़ते हुए, फिर भी दोनों भाषाओं में इतना अधिक साम्य एवं सामञ्जस्य है, जिन के होते एक से दूसरी का सीख लेना आसान है।

यद्यपि मेरी यह धारणा है कि साधारण बोल-चाल की भाषा और साहित्यिक की भाषा में अन्तर का होना अनिवार्य है, फिर भी हिन्दी-उर्दू में बोल-चाल के शब्दों को अधिक प्रयुक्त कर दोनों भाषाओं के वर्तमान साम्य को कुछ अधिक बढ़ाया जा सकता है। ऐसा करना साहित्य-सेवियों का कर्त्तव्य है, कि भाषाओं को अधिक सर्वोपयोगी बनाने के अतिरिक्त, दोनों भाषाओं के सीखने में अधिक-से-अधिक सुविधा भी हो सके। साथही हर हिन्दू-मुसलिम का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह एक भाषा को जानते हुए दूसरी को जानने का प्रयत्न करे। इससे एक लाभ तो यह होगा, कि विचार-विनिमय से विचारों में विस्तीर्णता आएगी, जिससे दोनों भाषाओं की कतिपय साहित्यिक त्रुटियों के दूरीकरण के साथही दोनों का साहित्य उन्नत होगा। दूसरा लाभ यह होगा, कि हिन्दी-उर्दू-मेल के हो जाने पर पारस्परिक सहानुभूति के कारण हिन्दू-मुसलिम-मेल की समस्या भी बहुत-कुछ हल हो जायगी और तीसरा लाभ यह होगा, कि हम हिन्दी-उर्दू को सीख कर ही उस हिन्दुस्तानी भाषा के ज्ञान को सार्थक बना सकेंगे, जिसका प्रथक निर्माण तो साहित्यिक दृष्टि से संदिग्ध और अनिश्चित ही प्रतीत होता है।

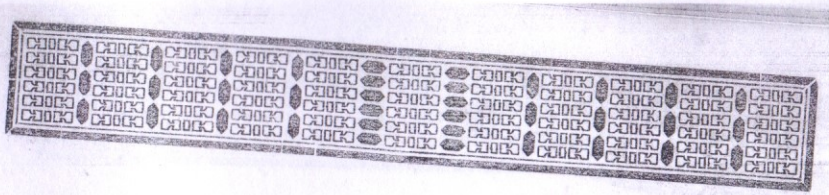

मेरी गिरफ़्तारी

लेखिका—श्रीमती शिवरानी देवीजी

पूस का महीना था और १० बजे दिन का समय। मैं स्नान करके अपने घर में बैठी हुई थी कि महिला-सभा की एक देवीजी आकर बोलीं—चलिये, आपको महिला सभा में बुलाया है।

मैंने पूछा—क्यों, क्या काम है?

देवीजी ने कहा—मुझे खुद ही नहीं मालूम। मुझ से इतना ही कहा कि आपको बुला लाओ।

मेरे पतिदेव चार दिन पहले ही बाहर गये हुए थे। मेरी लड़की, दो लड़के और नौकर घर में थे। लड़की ने कहा—अम्मा भोजन कर लो। मैंने कहा—अभी आती हूँ, तब भोजन करूँगी।

मैं महिला आश्रम पहुँची, तो मालूम हुआ चौक में पाँच स्वयं-सेवक पिकेट करते हुए गिरफ़्तार हो गये हैं और अब हमें पिकेट करने जाना है। मर्दों की गिरफ्तारी से दूकानदारों पर कोई असर नहीं पड़ता। गाँठों पर मुहर नहीं लगवाते और न विलायती कपड़े बेचना छोड़ते हैं।

मैंने ६ बहनों को साथ लिया और चौक में जा पहुँची। पिकेटिंग शुरू होगई—विलायती कपड़े बेचना हराम है।

ज़री देर में बहुत-से आदमी जमा हो गए और दूकानदारों में भी कुछ हलचल मची। यकायक पुलीस के कई कांस्टेबल आ पहुँचे और आदमियों को वहाँ से हटा दिया। तब दारोग़ाजी ने आकर मुझ से कहा—देवीजी, हम आपको गिरफ़्तार करते हैं।

मैंने वारंट माँगा। इसका जवाब यह मिला कि नये कायदे के अनुसार वारंट की कोई जरूरत नहीं है।

मैंने बहनों से कहा—बोलो महात्मा गाँधी की जय! भारत माता की जय!

उसी वक्त लारी आ गई। हम सब उसमें जा बैठीं। लारी तेज़ी से चली और हम ऊँचे स्वरों से राष्ट्रीय गीत गाने लगे।

जब लारी बस्ती के बाहर निकल गई, तो मुझे चिन्ता हुई, यह लोग कहीं किसी बीहड़ स्थान में न लिये जाते हों। इसके पहले एक बार कई बहनों को रात के समय शहर से पाँच मील पर छोड़ दिया गया था।

लारी में पुलीस के पंद्रह आदमी बैठे हुए थे। दारोग़ाजी नहीं थे। दो-चार आदमियों की आँखों में मुझे आँसू दिखाई दिये। मैंने उनसे कहा—भैया, हमें जेल में ही छोड़ना। ऐसा न हो इधर-उधर छोड़कर चल दो।

एक सिपाही बोला—नहीं माताजी, आपको जेल में ही पहुँचायेंगे। क्या करें, पेट सब करवाता है, नहीं क्या हमारे हृदय नहीं है। जिन माताओं और बहनों की पूजा करनी चाहिए, क्या उन्हें गिरफ़्तार करते हमें रंज नही होता। हमें यहाँ २२) मिलते हैं। कोई दस रुपये महीना भी देने को कहे, तो हम आज यह पाप की नौकरी छोड़ने को तैयार हैं।

उन लोगों की बेबसी देखकर मुझे दया आ गई। बोली—भाइयो, दुखी मत होओ। तुम सरकार के नौकर हो, तुम्हारा यही धर्म है कि अपने मालिक की सेवा सच्चे मन से करो। हम लोग भी तो अपने नेता की ही आज्ञा पालन कर रहे हैं।

एक सिपाही ने कहा—आपको धन्य है! आप लोग इतनी उदार न होतीं, तो जेल क्यों जातीं।

लारी जेल के द्वार पर पहुँच गई। दारोग़ाजी वहाँ पहले ही पहुँच गये थे। उन्हें आते देख सब सिपाही चुप हो गये। इन ग़रीबों को अपनी आत्मा को कितना दबाना पड़ता है।

हम लोग जेल के दफ़्तर में गये। वहाँ जेलर साहब ने हमारे नाम और पते लिखे। जिन बहनों के पास जेवर थे, उन्होंने वही जमाकर दिये। हमने जेलर साहब से यह फोन कर देने को कहा कि हम लोग जेल में पहुँच गये। तब जेल की जमादारिन आई और हमें जनाने वार्ड की ओर ले चली।

जेल में पहले ही से कई बहनें कारावास कर रही थीं। उन्हें हम लोगों के आने की सूचना मिल गई थी। अंचल में फूल लिये खड़ी थीं। हम लोग ज्यों ही पहुँचे, उन्होंने हमारे ऊपर फूलों की वर्षा की और गले मिलीं। इतने प्रेम से हमारा स्वागत किया, मानो बिछुड़ी हुई बहनें बहुत दिनों बाद मिली हों। फिर पूछने लगीं—आप लोग कैसे आईं? हमने अपनी कथा कह सुनाई। शाम तक सभी बाहर का समाचार पूछती रहीं। जेल का हाल भी उनसे बहुत कुछ मालूम हुआ।

तीन बजे जेल का एक बाबू आकर पूछने लगा—आप लोग मांस, और अंडे खाती हैं। हम लोगों ने कह दिया—'नहीं।' तब वह आटा, दाल, चावल, घी, सूजी, नमक, मसाला, लकड़ी आदि रखवा गया। दूसरी बार कम्बल और टाट के फट्टे दे गया। मेरे साथ की बहनों ने तो भोजन पकाया, पर मुझे इच्छा न थी। ससुराल में आनेवाली नई बहू की भाँति मेरा मन चिन्तित था।

सन्ध्या समय मेरे बच्चे मुझसे मिलने पहुँचे। मैं फिर दफ़्तर में लाई गई। मैंने बच्चों को समझाया। तुम मेरी ज़रा भी चिन्ता न करो। मैं यहाँ बहुत आराम से हूँ। आपस में लड़ाई न करना। प्रेम से रहना। एक बहन बच्चों के साथ मुझसे मिलने गई हुई थीं। मैंने अपने बच्चे उन्हें सौंपे और कहा—जब तक स्वामीजी न आजायँ, आप इनकी निगरानी कीजिएगा। अपने बच्चों को यों दूसरे की दया पर छोड़ते दुःख हो रहा था। मैं बच्चों से बातें तो करती थी; पर उनकी ओर देखती न थी। आँखों में बार-बार आँसू भर आते थे। सन्तोष इतना था, कि बच्चों को अपना कर्त्तव्य ज्ञात था। सब प्रसन्न थे। जब मैं महिला-आश्रम जाया करती थी, तो छोटा लड़का जो दस साल का था, स्कूल जाते समय हर दिन कहकर जाता था—अम्मा, तुम कहीं न जाना। तुम नहीं रहती, तो घर अच्छा नहीं लगता। ऐसा न हो तुम भी गिरफ्तार हो जाओ। तब मैं उसको समझाती थी—मान लो गिरफ्तार ही हो जाऊँ, तो क्या तुम रोओगे और मुझसे मुआफ़ी मगवाओगे। तब वह कहता—नहीं अम्माँ, हम नहीं रोएँगे, तुम मुआफ़ी न माँगना। आज उसे जेल में देख कातर हो उठी। उलटी बात हुई। बालक तो प्रसन्न था और मैं जो उसे समझाया करती थी, मुँह फेर-फेरकर आँसू पोंछती थी।

थोड़ी देर में लड़के विदा हो गये और मैं जेल में लाई गई।

पहले मैं सोचती थी, जेल में लोगों को बड़ी तकलीफ होती होगी। यह मेरा भ्रम था। मैं तकलीफ़ों के लिये तैयार होकर आई थी; मगर यहाँ किसी तरह का कष्ट न हुआ। कहना चाहिए, इस जेल के देखते हमारे घर ही जेल हैं। बहुत कम ऐसे घर होंगे, जिनमें काफ़ी धूप, रोशनी और हवा मिलती है। जेल में इन चीज़ों की कमी न थी। तब कोई जेल जाने लगता था, तो उसे देखकर रोना आता था। बेचारी को न-जाने क्या-क्या कष्ट भोगना पड़ेंगे; किंतु अब मालूम हुआ, वह मेरी भूल थी। हाँ, जेल में जो ए. बी. सी, दरजे बनाये गये हैं, इनसे हमारा बड़ा अहित हो रहा है। वही ऊँच-नीच का भाव जो हमारे समाज को कलंकित कर रहा है, यहाँ भी आ खड़ा हुआ है। आपस में वैमनस्य और फूट डालने का इससे अच्छा दूसरा उपाय न हो सकता था। जो बहनें और जो भाई ए. या बी. में रहते हैं, सी० क्लासवालों को नीचा समझने लगते हैं। इससे आपस में कितनी बुराई होती है और राष्ट्र को कितनी हानि पहुँचती है, इसका अनुमान करना कठिन है। मुझे तो अपनी कई धनवान

(शेषांश ९३ वें पृष्ठ के नीचे)

मेरे जीवन का एक अनुभव

लेखक—श्रीयुत मुंशी दयानारायण निगम, बी० ए०

लगभग २० साल की बात है कि ज़िले के हुक्काम सदर-अस्पताल कानपूर के हिन्दुस्तानी असिस्टेंट सर्जन साहब पर कुछ अविश्वास करने लगे थे। किसी फ़ौजदारी के मुआमले में उनकी रिपोर्ट ग़लत साबित हो गई थी, यह उसी का नतीजा था। कलक्टर साहब मुंसिफ़ मिज़ाज पर सख्त हाकिम थे। ज़िले भर में उनके रोब का सिक्का बैठा हुआ था। सभी लोग उनकी साफ़गोई और कठोर नीति से डरते रहते थे; किन्तु अपने तौर पर साहब बहादुर प्रजा के शुभचिंतक और ग़रीबों के सहायक थे। उनके मिज़ाज में बनावट और दिखावट की गंध भी न थी। खुशामद से उन्हें घृणा थी। इसलिये सच्ची बात कहने और सुनने के आदी थे। मेरी भी साहब से मुलाक़ात थी। खुशामद मुझे भी नहीं आती। मेरी साहब से घंटों बातें होती रहती थीं। एक दिन वह बहुत दुखी और क्षुब्ध होकर सर्जन साहब से शिकायत करने लगे—'देखिए, इंगलैंड में उस देश के आदमी कितने निस्पृह होते हैं, कि चाहे कोई कितने ही रुपए खर्च करने पर तैयार हो; पर किसी अधिकारी डाक्टर से ऐसी ग़लत और झूठी रिपोर्ट नहीं लिखा सकता।' यहाँ तक तो मुझे कोई आपत्ति न हुई; लेकिन साहब और आगे बढ़कर भारतवासियों के चरित्र पर आक्षेप करने लगे—'भारतवासियों ने अभी तक शुद्धाचरण का महत्व नहीं समझा। वह बड़ी आसानी से प्रलोभनों में पड़ जाते हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि साहब जो कुछ कह रहे थे, सच्चे दिल और खेद के साथ कर रहे थे; पर न जाने क्यों मुझे उनका यह कथन बुरा मालूम हुआ। एक व्यक्ति-विशेष के अपराध के लिये सारी जाति को क्यों कलंकित किया जाय? खैर, मैं धैर्य के साथ साहब के इस 'फ़र्द-जुर्म' को सुनता रहा और जब वह अपना कथन समाप्त कर चुके, तो मैंने भी निहायत अफ़सोस के साथ कहा—'हमारी सदियों की गुलामी ने निस्सन्देह हमारा नैतिक पतन कर दिया है और आपने इस विषय में जो कुछ कहा, वह बड़ी हद तक यथार्थ ही है; लेकिन दुर्भाग्य-वश यहाँ के जलवायु में कुछ ऐसा दोष आगया है कि यहाँ आकर सत्यवादी अंग्रेज़ भी आदर्श से गिर जाते हैं, और डाक्टरी-जैसा पेशा भी ऐसे महानुभावों से ख़ाली नहीं है।'

साहब इस वक्त रंज में थे; पर मेरा यह जवाब सुनकर चौंक पड़े। कहाँ तो कुरसी पर उदास बैठे हुए थे, कहाँ एक बारगी जगह से उछल पड़े और खड़े होकर बोले—मैं आपका मतलब नहीं समझा।

मैंने धैर्य के साथ अपने कथन का समर्थन किया—मेरा मतलब तो साफ है। आप हिन्दुस्तानी डाक्टरों के व्यवहार से दुखी हैं; लेकिन मैं अंग्रेज़ों को भी इस तरह की बातों से ऊपर नहीं समझता। अच्छे बुरे दोनों ही जातियों में हैं और व्यक्तियों के व्यवहार से जातियों के विषय में कोई धारणा स्थिर करना उचित नहीं है।

किन्तु साहब को संतोष न हुआ। वह बराबर यही कहते रहे कि मेरे आक्षेप में कोई तथ्य नहीं है और यदि मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है, तो मुझे किसी पर ऐसा दोष अरोपित न करना चाहिए।

मेरी कठिनाई यह थी कि इस समय मैं इस विषय पर मुफ़स्सल गुफ्तगू के लिये तैयार होकर नहीं आया था। बात-में-बात निकल आई। कई सुनी-सुनाई बातें मेरे मन में थीं। मैं उन्हें प्रकट न करना चाहता था; पर जब साहब आग्रह करने लगे, तो मैंने खोलकर कह दिया।

साहब क़ायल न हुए। उनका पारा और भी चढ़ गया। फ़रमाने लगे—देखो, सुनी-सुनाई बातों पर तुम्हें विश्वास न करना चाहिए और दूसरों पर दोषारोपण करने के पहले अपनी बात को खूब तौल लेना चाहिए।

साहब के विचार में मेरे बताये हुए उदाहरणों से हिन्दुस्तानियों ही की बेईमानी साबित हुई। कहने लगे—हिन्दुस्तानी मातहतों ने अपने अंग्रेज अफ़सरों को धोखा देकर उनसे रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करा लिए होंगे। इससे अफसरों के विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता।

वाद-विवाद बढ़ता जाता था। मैं भी आसानी से दबनेवाला न था। उधर साहब भी पेच-दाव खा रहे थे और बार-बार मुझसे कहते थे कि काफ़ी सबूत और प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना मुझे ऐसी बात ज़बान पर न लानी चाहिए और इन आक्षेपों को वापस लेकर क्षमाँ माँगनी चाहिए। वह मुझे बार-बार इतमीनान दिलाते थे कि यदि मैं सप्रमाण कोई दोष लगा सकूँ, तो वह उसकी पूरी तहक़ीक़ात करने को तैयार हैं।

इसमें शक नहीं कि यह साहब निष्पक्ष आदमी थे; लेकिन जातीय अभिमान उनमें भी कूट-कूट कर भरा हुआ था, या शायद भ्रम हुआ हो कि मैंने केवल प्रतिकार के लिये ही यह दोषारोपण किया है। मैं भी अपने दिल में सोच रहा था, देखें इस संग्राम में कौन अंत तक डटा रहता है। साहब बहादुर अपनी बात पर अड़े हुए थे और मैं भी अपने शब्द वापस लेने को तैयार न था।

सहसा मुझे एक युक्ति सूझ गई।

मैंने कहा—अगर आप प्रमाण चाहते हैं, तो मैं दे दूँगा। हाँ, इसमें रुपए खर्च होंगे और मैं इतना मालदार नहीं हूँ। रुपए आपको ख़र्च करने पड़ेंगे; क्योंकि संतोष आप चाहते हैं, न कि मैं।

साहब ने पूछा—रुपए का क्या काम है?

मैंने कहा—सुनिए। और कोई सबूत तो मैं दे नहीं सकता और न मुझे इतनी फ़ुरसत ही है कि मैं अपना काम छोड़कर इसीके पीछे पड़ जाऊँ। हाँ, अगर आप रुपए ख़र्च करने को तैयार हैं, तो मैं एक काम कर सकता हूँ। पहले आप इसकी जाँच करा लीजिए कि मुझे कोई ख़ास बीमारी है, या नहीं। मसलन अगर मैं देख सकता हूँ, तो अंधा होने का सार्टिफिकेट ला दूँगा। जिस रोग की मुझ में परछाईं भी नहीं है, उससे ग्रस्त होने का सार्टिफ़िकेट लाऊँगा और अंगरेज डाक्टरों से। मुझे अख्तियार होगा, जहाँ से चाहूँ लाऊँ और जितना ख़र्च होगा उसके ज़िम्मेदार आप होंगे।

मेरा यह कहना था कि साहब के होश ठिकाने आगये। कहाँ तो अकड़े बैठे थे, कहाँ धम से कुरसी पर हो रहे। मुझे इस वक्त उनके मुख से निकले हुए शब्द तो याद नहीं रहे; लेकिन इतना ख़याल है कि वह तुरन्त ठंढे पड़ गये और नम्रता से बोले—अगर वास्तव में तुम ऐसा कर सकते हो, तो बड़े खेद की बात है।

मुझे उन्होंने यह विश्वास भी दिलाया कि यदि मुझे उनके किसी मातहत अंग्रेज़ के विषय में कोई ख़ास शिकायत सुनने में आये, तो मैं उनसे स्पष्ट कह दूँ और वह उसकी उतनी ही निष्पक्ष रीति से तहक़ीक़ात करेंगे, जिससे उन्होंने हिन्दुस्तानी असिस्टेंट सर्जन की गरदन पकड़ी थी। मुझे उनकी तरफ़ से इसका पहले ही से विश्वास था; अतएव मैंने यही ग़नीमत समझा कि मेरी बात रह गई और मेरा उद्देश्य पूरा हो गया। मैं उन्हें केवल यह बतलाना चाहता था कि हिन्दुस्तानी हों या अंग्रेज़, अच्छे बुरे दोनों ही में हैं और किसी व्यक्ति की ख़ता पर किसी जाति को नीच और कुटिल समझ लेना अन्याय है।

मुझे देर हो रही थी। घर चला आया; लेकिन उस दिन के बाद साहब से इस विषय में फिर मेरी बहस नहीं हुई। वास्तव में यह साहब स्वयं बड़े कर्त्तव्यशील और ईमानदार आदमी थे। राजनैतिक विषयों में अलबत्ता उनके विचार संकीर्ण और राजसत्तावादी थे; इसलिये मांटेगचेम्सफ़ोर्ड सुधारों के बाद ही वह सिविल सरविस से इस्तीफ़ा देकर विलायत चले गये, जहाँ वह अपने स्वदेश की सेवा कर रहे हैं।

हरिदास एण्ड कम्पनी के

संचालक—बाबू हरिदास लिखित

चिकित्सा चन्द्रोदय ७ भाग स्वास्थ्य रक्षा (नवम संस्करण)

सचित्र नीति-वैराग्य-शृंगार शतक

का अत्यन्त आदर हो रहा है। महलों में रहनेवाले राजा महाराजाओं से लेकर झोंपड़ियों में रहनेवाले ग्वाले और किसान तक इन पर जी-जान से लट्टू होकर खरीद रहे हैं। अगर आपने अबतक नहीं खरीदे हैं, तो आप भी कौन खरीद लीजिये।

मूल्य—चिकित्सा चन्द्रोदय ७ भाग का ४०॥) कमीशन काटकर ३१) । स्वास्थ्यरक्षा का ३॥) और तीनों शतकों का १३॥) कमीशन काटकर १२॥) मँगानेवाले १०) पेशगी भेजें।

और अपने क़रीब का रेलवे स्टेशन का नाम लिखें।

पता—हरिदास एण्ड कम्पनी (कलकत्तेवाली) गंगा-भवन, मथुरा, यू० पी०

ब्लॉक 'नवचेतन' के सौजन्य से।

चित्रकार
सोमालाल शाह

देखी, सुनी और भोगी हुई

लेखक—श्रीयुत महावीरप्रसादजी गहमरी

मेरे बचपन में, मेरे यहाँ मिठाई की छोटी-सी दूकान थी, जिसे मेरी माँ चलाती थीं (पिता का देहान्त मेरे बचपन में ही हो गया था)। मेरी माँ देवताओं में बड़ी भक्ति रखती थी और साँझ-सबेरे गंगा-स्नान कर सूर्य को जल देते समय और रात को दीया बुझाकर सोते समय नित्य यह मंत्र पढ़ती—'हे भगवान ! सबका भला, उसके पीछे इस तिवई का भी भला।' उसकी यह बान थी, कि कभी किसी को कोई सौदा कम न तौलना। गरीबी के कारण बड़ी कठिनाइयों में पड़ने पर भी वह अपने इस प्रण को निबाहती और कठिनाइयों से भी पार पाजाती। एक बार देवी के स्थान में मेला लगा था, जहाँ दूसरों के साथ हमारी दूकान भी गयी थी। कहीं का एक नामी जमींदार आया, जिसने दूकानदारों से बाजार-भाव से सस्ती दर पर मिठाइयाँ माँगीं। दूसरे दूकानदारों ने उसी दर पर अपनी-अपनी मिठाइयाँ तौल दीं ; मगर मेरी माँ ने यह कहकर देने से इनकार किया, कि मेरा परता नहीं पड़ता। जमींदार ने पूछा—दूसरों का परता कैसे पड़ रहा है ? मा ने जवाब दिया—मैं कह नहीं सकती। जमींदार चला गया। सब दूकानदार मिठाइयाँ बेचकर खुश होने और मा की बुद्धि पर हँसने लगे। माँ को ग्लानि आयी, उसने देवी के पुजारी से कहा—अंधेर देखते हैं बाबाजी ! परता किसी का नहीं पड़ता ; मगर सबने टेनी मारकर या कम बटखरे से तौलकर जमींदार की आँख में धूल झोंक दी और मुझे हँस रहे हैं ; क्योंकि मैंने ऐसा नहीं किया। पुजारी ने माँ को धीरज दिया। मेरी माँ ने कहा—मुझे धीरज है महाराज ! मेरी मिठाई बिके चाहे न बिके, मैं दर बढ़ाकर और कम तौलकर सौदा नहीं बेचूँगी। एक-दो घण्टे के बाद वह जमींदार फिर आया और हमारी दूकान की सारी मिठाई मेरी माँ के कहे हुए भाव पर ही तौला ले गया। फिर तो माँ को इतना आनन्द हुआ, कि उसके मुँह से निकल पड़ा—ईमानवाले का ईमान भगवान रखते हैं।

कम तौल या नाम की शिकायत ग्राहकों की ओर से अक्सर सुनने में आती है, मेरा ख़याल है कि इसका एक कारण ग्राहकों का विशेष मोल-तोल करना या बाजार-भाव से अधिक चाहना भी है। उस दिन काशी की एक कोयला बेचनेवाली ने बात पड़ने पर कहा कि मेरा अधसेरा सात छटाँक का और पौआ तीन छटाँक का है। ऐसा बाट मैंने इसलिये नहीं रखा है कि किसी को ठगूँ ; मगर जो कोई कोयला लेने आता है, वह चाहता है कि मैं उसे जिन्दा भी तौलूँ और ऊपर से एक-दो कोयला घेलुआ भी डाल दूँ। पूरे बाट से तौलने पर, ऐसा करने पर घाटा लगता है, नफा तो चूल्हे में गया। न देने पर ग्राहक दूसरी दूकान पर चले जाने की धमकी देता है। लाचार होकर ऐसा करना पड़ता है।

मेरे मामा ने एक दिन, आज से तीस-पैंतीस वर्ष पहले की—जब कि जातीय सभाओं का जोर नहीं के बराबर था—अपनी एक घटना सुनायी। उन्होंने एक गाय पाली थी, जिसके लिये घास वह कभी-कभी अपने हाथ से, खेतों में जाकर, छील लाते थे। उन्होंने कहा—एक दिन मैं खाँची-खुरपी लेकर तुम्हारे गाँव की सीमा में—उनके और हमारे गाँव की सीमा मिली हुई है—घास लेने चला गया। एक खेत में मैं घास छील रहा था, कि एक क्षत्रिय ने ललकारा—कौन है रे ? मैंने उसी सुर में जवाब दिया—क्या है रे ? जैसे-का-तैसा जवाब सुनकर वह कुछ सहम गया। फिर उसने सम्हलकर कहा—तुम कौन हो जी ? मैंने कहा—तुम कौन हो जी ? 'मैं तो क्षत्रिय हूँ'। 'मैं भी तो क्षत्रिय हूँ।' बस इस

सवाल-जवाब के बाद वह चुपचाप वहाँ से चला गया। मामा यह बयान कर कहने लगे—अगर मैं ऐसा जवाब न देकर नम्रता-पूर्वक कहता—मैं हूँ बाबू साहब ! आपकी प्रजा बनिया, तो निश्चय ही वह शेर की तरह मुझ पर आ टूटता, मुझे दो-चार थप्पड़ लगाता और शायद खँचिया-खुरपी भी छीन लेता ; मगर जब उसने जाना कि यह भी शेर है, तो धीरे से खिसक गया।

आजकल छोटी कहलानेवाली जातियाँ अपना नाम बदल रही हैं—प्रायः सभी ब्राह्मण या क्षत्रिय बन रही हैं ; क्योंकि ये ही दो जातियाँ विशेष प्रतिष्ठित मानी जाती हैं। जिन जातियों के नाम सुनते ही—काम को कोई नहीं पूछता—घृणा और छोटाई का भाव उत्पन्न हो जाता है, उन नामों का बहिष्कार हो रहा है, और प्रतिष्ठित नाम अपनाये जा रहे हैं। बदनाम नामों के साथ ही घृणा का भाव दूर हो जाय, तो आश्चर्य नहीं।

११ वर्ष की उमर में, सन् १८९० में मैं अपने गाँव गहमर के मदरसे के तीसरे दरजे में—आजकल का पाँचवाँ दरजा—पढ़ता था। सालाना इम्तिहान डिप्टी इन्सपेक्टर और सब-डिप्टी इन्सपेक्टर लेने आये। मैं और सब विषयों में तो तेज था, इसीसे अव्वल नम्बर पर रखा गया था ; मगर भूगोल मुझे कुछ नहीं आता था। भूगोल के नाम से मेरा कलेजा काँप उठता था—अब भूगोल में बड़ा मन लगता है—हिल साहब का भूगोल पढ़ाया जाता। सौ-सवा-सौ पृष्ठों की पुस्तक में सिवा यूरोप की अट्ठाइस नदियों के नाम के, मुझे और कुछ भी नहीं याद था ; गणित, साहित्य आदि की परीक्षा हो जाने पर भूगोल की बारी आयी। सब लड़के एक कतार में डिप्टी और सब-डिप्टी के सामने खड़े किये गये। सब-डिप्टी भूगोल की पुस्तक लेकर पन्ने उलटने लगे कि कहाँ से सवाल करें। मेरा कलेजा धड़कने लगा, मैं बार-बार भगवान का स्मरण करने लगा कि इज्जत रह जाय। सब-डिप्टी जब तक पन्ने उलटते रहे, तब तक मैं न-जाने कितनी बार भगवान का नाम ले गया। पन्ने उलटते-उलटते सब-डिप्टी साहब वहीं आकर ठहरे, जहाँ यूरोप की नदियों का नाम लिखा था और कहा—यूरोप की नदियों के नाम बताओ। इतना कहना था कि मैं धड़ल्ले के साथ कह गया—वालगा, डान, नाइवर, नाइस्टर, पो, रोम, डान्यूब इत्यादि। मेरा धड़ल्ले का जवाब सुनकर सब-डिप्टी ने दूसरे लड़के की ओर मुँह किया, मुझसे और कोई सवाल नहीं किया। मैं कतई पास हो गया। मेरी प्रार्थना का फल ईश्वर ने तत्काल दिया। तब से ईश्वर पर मेरा विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और एकाग्रता के साथ उनका नाम स्मरण करके कितनी ही कठिनाइयों से पार पा गया हूँ।

अंडकोष बहुत बढ़ जाने से २६-२७ वर्ष की उमर में मैंने कलकत्ते में एक डाक्टर से क्लोरोफार्म सूँघ अपरेशन कराया। बचपन में, बूढ़ों का पानी बढ़ा देखकर मैं बहुत हँसता, माँ बारहा मना करती, कि दूसरों का रोग या अंग-भंग देखकर हँसना न चाहिये ; मगर मेरा लड़कपन इस नसीहत को न मानने देता। फल-स्वरूप छोटी उमर में ही यह रोग मुझे लग गया और कितनी ही बार सुई चुभाकर पानी निकाला गया ; मगर रोग निर्मूल नहीं हुआ ; बल्कि मांस बनता गया जिससे, अन्त को चीर-फाड़ की नौबत आयी। क्लोरोफार्म सुँघाते समय डाक्टर ने होश न रहने का पता लगाने के लिये कहा कि गिनती करो। मैं अंक गिनने के बदले राम का नाम लेने लगा। राम-राम रटते-रटते न-जाने कब बेहोश हो गया ; मगर फिर ज्योंही होश हुआ, मेरे मुंह से फिर राम-राम निकलने लगा। उस समय आधी बेहोशी की हालत थी। ठीक होश में आने पर राम का नाम लेना बन्द कर दिया ; क्योंकि बोलने की शक्ति न थी। पीछे मैं सोचने लगा—क्या राम का नाम लेते-लेते मेरी आवाज़ पर ऐसी कोई चीज बैठी, जिससे आवाज बन्द हो गयी और उस चीज के हटते ही फिर वह आवाज आप-से-आप निकलने लगी ! क्या बात थी ? फिर जितनी देर मैं बेहोश रहा, मुझे कुछ भी याद नहीं कि क्या हुआ। न स्वप्न था, न और कुछ। तो क्या मृत्यु के बाद ऐसा ही होता है ? कौन कहे।

बम्बई से काशी आकर 'स्वर्गमाला' निकालने पर एक दिन मैं मिरजापुर गया। बम्बई में परिचित दो-चार मित्रों ने ग्राहकों की सहायता दिलाने के लिये बुलाया था। स्टेशन से उतरकर

(शेषांश ११० वें पृष्ठ के नीचे)

मेरी आत्म-कथा

लेखक—श्रीयुत प० गयाप्रसादजी शास्त्री 'श्रीहरि' साहित्याचार्य

मेरी पूजनीया माताजी पुराने विचारों के ऊपर आस्था रखनेवाली थीं। कई एक बड़े भाई-बहनों की बचपन में ही मौत हो जाने के कारण, जब मैं गर्भ में था, तो मेरी माताजी अपने श्वसुर-गृह से मातृ-गृह चली आई थीं ; अतः मेरा जन्म अपने ननिहाल में हुआ। मेरा पितृ-गृह जिला सीतापुर में खैराबाद नाम का क़स्बा और मातृ-गृह जिला खीरी की तहसील मुहम्मदी में है। यहीं मुहम्मदी में मेरा जन्म हुआ। गुरुजनों का कहना है, कि जब मैं पैदा हुआ था, तो माता ने मुझे भैंसे के गोबर से तुलना कर पड़ोस के एक भुरजी के हाथ बेच दिया था। बाद में भुरजी से मँगनी लेकर मेरा लालन-पालन किया गया था। ये सब लीलाएँ मेरे चिरजीवी रहने के लिए ही की गई थीं। मेरी माताजी बड़ी उदारहृदया तथा तेजस्विनी थीं। कायरता और कापुरुषता से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। यही कारण है, मेरी छठी के दिन उन्होंने व्याघ्र का मांस घिसकर मुझे दूध के साथ पिला दिया था। सम्भवतः पहले समय की भोली-भाली माताएँ अपने बच्चों को पुरुषसिंह बनाने की प्रबल कामना से ही ऐसा किया करती थीं।

• • •

छोटेपन में मैं बहुत ही हठी, लड़ाका और उद्दण्ड प्रकृति का था। अड़ोस-पड़ोस के लड़कों के ऊपर काफ़ी धाक थी। कबड्डी, कुश्ती और बालकों की कृत्रिम लड़ाइयों में—राम-रावण-युद्ध में—मैं सबसे आगे रहता था। ५ वर्ष की अवस्था में ही अक्षरारम्भ करने के बाद मैं खैराबाद के वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। मेरे पूज्य पिताजी मुझे पण्डित बनाना चाहते थे ; अतः स्कूल से नाम कटवाकर मैं एक वृद्ध गुरुजी के समीप में सारस्वत—संस्कृत व्याकरण—पढ़ने के लिए भेजा गया। मेरे गुरुदेवजी का शुभनाम प० फाल्गुनजी था। आपकी वयस उस समय लगभग ७० वर्ष की रही होगी। गुरुजी का प्रचण्ड क्रोध, हिम-धवल श्मश्रु और बालों को देखकर दुर्वासा ऋषि का तुरन्त स्मरण हो आता था। तप और त्याग ही आपके जीवन का परम लक्ष्य था। ७० वर्ष की अवस्था में भी आपका मेरुदण्ड कभी मैंने झुका हुआ नहीं देखा था। आप जब कभी अपने बाल्यकाल की वीरता-पूर्ण बातें सुनाने लगते थे, तो जहाँ आपका मुख-मण्डल उत्साह और वीरता की भावनाओं से उद्दीप्त हो जाता था, वहीं श्रोताओं के शरीर में भी रोमांच होने लगता था। आप विद्यादान के बदले कुछ भी नहीं लेते थे, केवल शिष्यों की सेवा-शुश्रूषा तथा श्रद्धा से ही सन्तुष्ट रहते थे। आपके पवित्र जीवन का मुझ पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। आपसे 'सारस्वत' और प्रसिद्ध वैयाकरण श्री प० देवीदत्तजी शास्त्री से 'चन्द्रिका' पढ़कर श्री पूज्य पिताजी की आज्ञा से खैराबाद के प्रख्यात कवि और ज्योतिषी श्री प० भगवान्दीनजी मिश्र 'दीन कवि' से ज्योतिष पढ़ना आरम्भ किया। पण्डितजी ज्योतिष का पाठ तो नाम मात्र ही पढ़ाते थे ; किन्तु अपनी तथा अन्य प्राचीन कवियों की रचनाएँ बराबर सुनाते रहते थे। आपके ही सम्पर्क से मैं विशेषरूप से काव्य-रचना की ओर आकर्षित हुआ। महत्वाकांक्षा ने कभी भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मैं सत्कवि बनने की धुन में रात-दिन डूबा रहता था। मनुष्य की तीव्र इच्छाशक्ति और साधना उसे लक्ष्य तक पहुँचाने में अवश्यमेव सहायता करती है। इसी समय सीतापुर की प्रान्तीय प्रदर्शनी की ओर से खैराबाद में एक विराट

कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। समस्याएँ थीं—'वीर बाँके हैं' 'देश' और 'प्रेम'। कवि-सम्मेलन के दिन, जहाँ युक्तप्रान्त के बड़े-बड़े धुरन्धर और वृद्ध कवि पहुँचे, वहीं एक छोटा-सा बालक मैं भी अपनी पूर्तियाँ लेकर पहुँचा। इस समय मैं सनातन-धर्म-सभा स्कूल लखीमपुर (खीरी) से व्याकरण-मध्यमा की परीक्षा दे चुका था। मेरे कवितागुरु श्री दीनजी को इस बात का स्वप्न में भी पता नहीं था, कि मैं कविता करना भी जानता हूँ। कवि-सम्मेलन में जब मैंने अपनी पूर्तियाँ पढ़ीं, तो उपस्थित सहृदय-समाज आनन्द से उछल पड़ा। फलतः उस कवि-सम्मेलन में मुझे प्रथम श्रेणी की कविता का पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'हंस' के पाठकों के मनोरंजनार्थ केवल एक छन्द अपनी पहली काव्यमाला से उपस्थित करता हूँ—

वीर बाँके हैं

लाजत अलक्त लखि लाड़िली ललाम पद, लोभी मकरन्द के मिलिन्द पद्म आँके हैं;
पद्मराग विद्रुम की लालिमा लजीली होत, कोविदार, कोकनद, किंशुक कहाँ के हैं।
जासु नख-कान्ति को विलोकि कै चकोर वृन्द, ये तो चारु चन्द निज चित्त माँहि टाँके हैं;
सोई वृषभानुजा-चरण भवसिन्धु बीच, बोही मम नाव के खिवैया वीर बाँके हैं।

इस अवसर पर गुरुजनों से भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और मैं अपने आपको कवि समझने लगा। उस समय से लेकर आज तक यथा समय कविता करता रहता हूँ; किन्तु दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर हो गया है। उस समय मैं अपने आपको कवि समझता था और इस समय उन अतीत भावनाओं या कल्पनाओं को एक प्रकार का मानसिक रोग समझता हूँ। भगवान् की कृपा से इस समय मैं कवि बनने के रोग से सर्वथा निर्मुक्त हो गया हूँ। मैं समझता हूँ, आजकल के अधिकांश नव-युवक, जो अपने आपको विश्वकवि, महाकवि या हिन्दी-साहित्य के 'सर्वश्रेष्ठ साहित्याचार्य' माने बैठे हुए हैं, उन्हें भी एक प्रकार का भयंकर मानसिक रोगी ही समझना चाहिए।

मेरे पूज्य पिताजी का शुभ नाम प० केदारनाथजी मिश्र और पूजनीया माताजी का शुभ नाम देवकी देवी था। पिताजी अपने नगर के प्रतिष्ठित ज्योतिर्विद तथा महाजन थे। नगर में काफ़ी धाक थी। आपका सुन्दर, स्वस्थ, बलिष्ठ एवं गौर-वर्ण शरीर आपाद-मस्तक देखते ही बनता था। ५५ वर्ष की अवस्था में भी आपके सुन्दर मुख-मण्डल की लाली गुलाब या रक्त कमल के फूल से स्पर्धा कर सकती थी। विशाल, लाल तथा लोल नेत्रों में तेजस्विता, स्वाभिमान एवं यौवनोत्कर्ष की प्रत्यक्ष छाया दिखलाई पड़ती थी। मुझे तो आजकल के २० वर्ष के नवयुवकों में भी वह उत्साह, ओज और स्वास्थ्य नहीं दिखलाई पड़ता, जो मेरे वृद्ध पिताजी में था। मेरी माताजी दुबली-पतली और गेहुएँ रङ्ग की थीं। तेजस्विता और स्वाभिमान की तो आप प्रतिमूर्ति ही थीं। लोगों का कहना है कि मेरे ऊपर पूज्या माताजी के ही जीवन का अधिक प्रभाव पड़ा। मेरा पहला विवाह सन् १९११ में जिला सीतापुर के छेहलिया ग्राम में प० हुलासरामजी वैद्य की छोटी पुत्री रानी देवी के साथ हुआ। कान्य-कुब्ज-समाज में वैवाहिक कुप्रथा के कारण विवाह के समय मेरी अवस्था लगभग १७ वर्ष और पत्नी की १३ वर्ष की थी। विवाह के तीसरे वर्ष नियमानुसार द्विरागमन होकर पत्नीजी घर पर आईं। इस समय मैं लखीमपुर में सनातन-धर्म-सभा हाईस्कूल के संस्कृत-विभाग में मध्यमा परीक्षा का विद्यार्थी था। कभी-कभी छुट्टियों में, जब घर पर आता था, तो पत्नीजी की प्रशंसा की अपेक्षा घर के लोगों से निन्दाही अधिक सुनता था। स्नेहपरायण पूज्या माताजी भी मेरी धर्मपत्नी के व्यवहार-बर्ताव से विशेष सन्तुष्ट न थीं। पत्नीजी से सब लोगों के असन्तोष का कारण उनके स्वभाव की तीव्रता कटुवादिता और असहन शीलता ही थी। मुझे पत्नीजी की निन्दा सुनकर बड़ा ही दुःख होता था। कई बार पत्नीजी को समझाता-बुझाता, मारता-पीटता और अपने भाग्य को रोया करता था। मेरे लिए इस समय संसार भार और जीवन निःसार-सा प्रतीत होता था।

(२)

सब मिलाकर मेरे चार भाई और चार बहनें थीं। इस समय मेरे परिवार का सुख-सौभाग्य

देखते ही बनता था। अन्न, धन और जन किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी। मेरे घर की फूली-फली फुलवाड़ी को देखकर सम्भवतः स्वर्गीय देवगण भी ईर्ष्या करते होंगे; किन्तु सबका सब समय समान नहीं जाता है। देखते-देखते भाग्याकाश में विपत्ति के बादल घिर आए। छोटी बहन जयरानी के देहान्त होने के बाद ही सबसे छोटे भाई हरनारायण रोग-शय्या के ऊपर पड़े और सब कुछ उपचार करने पर भी ९ वर्ष की अवस्था में ही इस संसार से चल बसे। तुरन्त ही बड़ी बहन शिवरानी देवीजी भी विधवा हुईं। कोमल हृदया माताजी अपने हृदय के टुकड़ों के इस वियोग-दुःख को सहन न कर सकीं और तुरन्त ही रोग-शय्या के ऊपर पड़ गईं। मैं इस समय लखीमपुर में ही पढ़ रहा था। सहसा ही एक दिन पिताजी के पास से पत्र आया कि तुम तुरन्त घर चले आओ। मैं पत्र पाते ही सबसे पहली ट्रेन पर लखीमपुर से चलकर घर पहुँच गया। घर पर पहुँच कर देखता हूँ कि माताजी रोग-शय्या के ऊपर अवाक् पड़ी हुईं किसी की प्रतीक्षा कर रही हैं। मैंने पूज्या माताजी को अन्तिम प्रणाम किया। उन्होंने मुझे और कुछ आशीर्वाद न देकर केवल हृदय से लगा लिया। माताजी के नेत्रों से अश्रुप्रवाह बहते हुए देखकर मैं भी रो पड़ा। उन्होंने अपने अशक्त करों से आज अन्तिमबार धीरे से मेरी आँखों के आँसू पोंछ दिए। इसी दिन सम्वत १९७१ की अगहन सुदी दशमी को मेरी पूज्या माताजी अपने रोते हुए प्रिय परिवार को छोड़कर किसी अज्ञात लोक को चली गईं।

(३)

विपत्तियाँ जब आती हैं, तो सभी ओर से एक साथ आती हैं। पूज्या माताजी के साथ ही घर की शोभा और सम्पत्ति भी धीरे-धीरे अनुगमन करने लगी। माताजी के देहान्त के ठीक तीन महीने बाद मेरी मँझली बहन भी छोटी-सी अवस्था में ही विधवा हो गईं। इस समय पिताजी के दुःखों का कोई ठिकाना न था। वे किसी-न-किसी प्रकार अपने मातृ-हीन अनाथ बच्चों का मुख देखकर अपने जीवन के शेष दिन बिता रहे थे। किन्तु निष्ठुर दैव को इतना दुःख देकर भी सन्तोष न हुआ। इसी समय मेरे ज्येष्ठ भ्राता प० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र, जो खैराबाद में ही सूतकी दूकान पर काम करते थे, दूकान में उपस्थित सारा रुपया लेकर ब्रह्मदेश के मटीला नगर को चले गये। दूकान का दिवाला हो गया और अपनी आँखों देखते-देखते हम लोग राजा से रंक बन गये। दूकान, मकान, गाँव, और ज़मींदारी आदि सब कुछ नीलाम हो गया। मुझे विवश हो पढ़ना छोड़कर नौकरी करनी पड़ी। आरम्भ में 'मेरी शारदाश्रम ज्वालापुर' के अधिष्ठाता स्व० प० मुकुन्दराम ने मुझे आश्रय दिया। यहीं पहले पहल कविरत्न प० सत्यनारायणजी कविरत्न तथा प० पद्मसिंहजी शर्म्मा से साक्षात्कार हुआ। उस आश्रम में कुछ दिन कार्य करके मैं श्रीमती सत्यबाला देवीजी के स्थानीय 'सत्यबालाश्रम' में चला आया। इस समय इस आश्रम में लगभग १५ कन्याएँ साधारण शिक्षा के सिवाय संगीत की शिक्षा पा रही थीं। यह आश्रम वास्तव में एक प्रकार से संगीत-विद्यालय ही था। श्रीमती सत्यबाला देवीजी के सम्बन्ध में मैंने अपने जो उद्गार उस समय प्रकट किये थे, वे एक छोटे से छन्द के रूप में पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ उपस्थित करता हूँ—

बाला है बिरंचि की सुरेन्द्र वृन्द वन्दित वे, धारे कर वीना उर मंजु मनि माला है;
माला है सुमोह की रमा ही गुनराशि कैधों, मुक्ति-मुक्ति दायिनी सुभक्ति ही विशाला है।
शाला है सुधा की वसुधा को शुभशान्ति कैधों 'श्री हरि' अनूप-रूप-ज्योति की उजाला है;
जाला है निरोस के मयूख की अनोखी मंजु, पुण्य-प्रेम-मानस-सुहंसी सत्यबाला है।

मेरे दुःख-दग्ध हृदय को इस आश्रम में कुछ शान्ति अवश्य मिली; किन्तु यह सुख-शान्ति क्षणिक थी। अभी तक दुर्दैव ने पीछा नहीं छोड़ा था। फलतः घटना-चक्र के वश होकर लगभग छः महीने के बाद ही मुझे यह स्थान भी छोड़ना पड़ा और मैं सपरिवार ज्वालापुर से घर पर खैराबाद चला आया।

(४)

ज्वालापुर से आने के बाद ही मैं रोग-शय्या के ऊपर पड़ गया। अनेक डाक्टर, वैद्य और

हक़ीमों के विविध उपचारों से मेरे रोग में तनिक भी कमी नहीं हुई, प्रत्युत रोग बढ़ता ही गया। रात-दिन ज्वर बना रहने के कारण डाक्टर-वैद्यों ने राजयक्ष्मा होने का निर्णय किया। मेरे वृद्ध और दुःखी पूज्य पिताजी के ऊपर यह नया वज्रपात हुआ। मैं अपने रोग का निदान और उसकी ओषध को भली भाँति जानता था; किन्तु भय, संकोच और लज्जा के कारण कुछ कह नहीं सकता था। मेरा शरीर और मन इस समय दोनों ही बहुत दुर्बल हो गये थे; इस समय मेरी दशा 'वर्षा विलोचन युगे हृदये निदाघः' के समान ही थी। दुर्बल आदमी को क्रोध बहुत आया करता है। एक दिन एक किसी छोटी-सी बात के ऊपर क्रोधावेश, हा! पापी क्रोध के चंगुल में फँसकर मैंने पत्नीजी से कह दिया कि 'अब मैं जीवन-पर्यन्त तुम्हारे हाथ से जल नहीं ग्रहण करूँगा।' पत्नीजी ने भरसक प्रयत्न किया; किन्तु मैं अपनी प्रतीज्ञा से तिल भर भी विचलित नहीं हुआ। इधर रोग के कारण जीवन के लाले पड़े हुए थे। इसी समय श्री सत्यबाला देवीजी का पत्र ज्वालापुर चले आने के सम्बन्ध में आया। मैं तुरन्त ही पूज्य पिताजी से आज्ञा माँगकर तुरन्त 'ज्वालापुर' के लिए चल दिया। इन्हीं दिनों गोवध का प्रश्न लेकर ज्वालापुर के समीप ही 'कटारपुर' नाम के ग्राम में भयंकर हत्याकांड हो गया था। ज्वालापुर, कनखल और हरद्वार के कितने ही प्रतिष्ठित महन्त और हिन्दू नागरिक इसी अभियोग में गिरफ़्तार कर लिये गये थे। फलतः मैं जिस ट्रेन से ज्वालापुर पहुँचा, उसकी दूसरी ट्रेन से देवीजी की अनुमति पाकर मैं देहरादून चला गया। यहाँ मैं केवल अपना दुःखमय समय काटने के लिए देहरादून के प्रसिद्ध डी० ए० वी० कालेज में अध्यापक का कार्य करने लगा। देहरादून में मैं प्रसिद्ध रईस लाला बलदेवसहायजी की डालनवाला वाली कोठी 'मोहनीभवन' में रहता था। यहीं श्री निरंजननाथजी 'श्रीमानजी' से मेरा परिचय हुआ। आप मुझसे बड़ा स्नेह करते थे। प्रति दिन अपने चिरंजीवी पुत्र दिवाकरजी बी० ए० और मुझे लेकर टहलने जाया करते थे। यहाँ मैं आप लोगों के सम्पर्क और वायु-सेवन आदि प्राकृतिक-चिकित्सा के द्वारा लगभग स्वस्थ हो गया था; किन्तु घरेलू विपत्तियाँ, सम्पत्ति का नाश, प्रियजनों का दारुण वियोग, पत्नी के प्रति भीषण प्रतीज्ञा एवं दुर्दैव के नित्य नए अकाण्ड ताण्डव और प्रहारों के कारण हृदय चूर्ण-विचूर्ण हो गया था। यद्यपि बाहरी व्यवहार-बर्ताव से मैं शान्त और स्वस्थ अवश्यमेव प्रतीत होता था; किन्तु हृदय में अब भी सांसारिक कष्टों की गहरी चोट के कारण अशान्ति का दावानल जल रहा था।

(५)

किसी भी व्यक्ति को बनाना या बिगाड़ना एवं हँसाना या रुलाना मंगलमय भगवान् के बायें हाथ का काम है। जिसे बनाते हैं, उसे खूब ही बनाते हैं और जिसे बिगाड़ते हैं, उसके सर्वनाश में कोई कोर-कसर भी नहीं रखते हैं। मेरे घर की दशा भी ऐसी ही हुई। इन दिनों खैराबाद में प्लेग भी चलने लगा। पूज्य पिताजी सपरिवार अपने एक छोटे-से ग्राम 'पण्डित-पुरवा' चले गये। मैं इन दिनों ज्वालापुर के 'सत्यबालाश्रम' में ही रहता था। दुर्दैव का रोब अब भी ज्यों-का-त्यों मेरे घर पर बना हुआ था। अकस्मात् एक दिन ५० सशस्त्र डाकुओं का मेरे घर पर आक्रमण हुआ। रात के ९ बजे से लेकर १२ बजे तक घर की बची-खुची सारी सम्पत्ति, बर्तनों से लेकर वस्त्र तक सब कुछ, डाकू लूट ले गये। डाकुओं की कुल्हाड़ी के प्रहार से पिताजी के मस्तक में गहरी चोट लगी और वे मूर्छित होकर धराशायी हो गये। इस भीषण दशा में मेरे छोटे भाई की स्त्री वीरबाला ने दौड़कर डाकुओं के हाथ से अपने मूर्च्छित श्वसुर के प्राणों की रक्षा की। थोड़े समय के लिए वह बुझता हुआ दीपक बच गया। धन की चोट बहुत बुरी होती है। जीवन की गाढ़ी कमाई, बची-खुची भी न बच सकी। पिताजी के साहस और धैर्य का बाँध टूट गया। वे इस अन्तिम दुःख से तुरन्त ही रोग-शय्या के ऊपर पड़ गये। अबकी बार वे पुनः स्वस्थ नहीं हो सके।

(६)

पिताजी की बीमारी का समाचार पाकर मैं देहरादून से घर के लिए चला। मार्ग में एक ट्रेन

से ससुराल में भी उतर पड़ा। इन दिनों मेरी पत्नीजी अपने भतीजे के यज्ञोपवीत में अपने मातृ-गृह (मायके) आई थीं। ससुराल से मेरे चलते समय वे थोड़ी-सी मिठाई और जल लेकर मेरे मार्ग में आकर खड़ी हो गईं और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगती हुईं थोड़ी-सी मिठाई खाकर जल पीने के लिए आग्रह करने लगीं; किन्तु हा, भवितव्य बड़ा प्रबल होता है। पत्नीजी के अनुनय-विनय की कोई परवाह न करके अपनी पूर्व-प्रतीज्ञा का उन्हें स्मरण कराता हुआ मैं वहाँ से चल दिया। पत्नीजी के साथ क्षणिक मिलन का यह मेरा अन्तिम दिन था। मैं घर घर आया, वहाँ पिताजी को उदरव्याधि से पीड़ित पाया। प्रातःकाल ही मेरी ससुराल से आकर एक आदमी ने संदेश दिया कि मेरी पत्नीजी की दशा बहुत ही ख़राब है। मैंने सबसे पहली ट्रेन से ससुराल पहुँचकर देखा कि पत्नीजी मृत्यु-शय्या के ऊपर पड़ी हुई किसी के अन्तिम दर्शन की प्रतीक्षा कर रहीं है। मैंने पत्नीजी के मस्तक के ऊपर हाथ रखकर पूछा कि तुम क्या चाहती हो! जो तुम कहोगी वही मैं करूँगा? इस समय उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी और मैं भी अपनी भूल या पापों के लिए आँसू बहा रहा था। पत्नीजी ने क्षीण स्वर में कहा कि 'जो कुछ होना था, वह हुआ, अब इन बातों से क्या मतलब' इतना कहकर सन् १९१९ के चैत्रमास की किसी अनिश्चित तिथि को अपनी स्मृति के लिए दो कन्याओं को छोड़कर पत्नीजी सदा के लिए इस संसार से विदा हो गईं। मैं फिर कुछ न कह सका, मेरी आँखों के आगे अपनी ही भूलों या पापों का अँधियाला छा गया और मैंने अपने ही हाँथों अपना सर्वस्व खो दिया।

(७)

इन दिनों विद्यालय में वार्षिक परीक्षाएँ हो रही थीं; अतः मैं ससुराल से पुनः घर न लौटकर सीधे देहरादून चला गया। ज्यों-त्यों करके विद्यार्थियों की परीक्षाएँ समाप्त होकर गर्मियों की छुट्टियाँ हो गईं। मुझे अपने पूज्य पिताजी की रुग्णावस्था का पूरा ध्यान था; इसलिए विद्यालय में छुट्टियों के होते ही मैं तुरन्त खैराबाद के लिए चल दिया। घर पर आकर देखा कि पूज्य पिताजी अवाक् पड़े हुए मेरे आने की प्रतीक्षा में अपने जीवन की अवशिष्ट घड़ियाँ गिन रहे हैं। मुझे देखकर वे फूट-फूटकर रोने लगे। इस समय मैं भी रोने के सिवाय और कुछ भी न कर सका। घर के सब लोग भी खड़े-खड़े रो रहे थे। चारों ओर दुःख का समुद्र उमड़ रहा था और मेरी यह छोटी-सी जीर्ण-शीर्ण जीवन-नौका उसी में डूबी जा रही थी। मैंने किसी प्रकार धैर्य धारण करके रोते हुए पिताजी से पूछा कि पिताजी! जब आपकी यह दशा थी, तो आपने मुझे पत्र भिजवा कर देहरादून से बुलवा क्यों नहीं लिया? पिताजी ने किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से क्षीण स्वर में उत्तर दिया कि बेटा! इस समय इस अनाथ परिवार के एक मात्र जीवनाधार तुम्हीं हो। तुम्हारी जीविका की रक्षा करने ही के लिए इच्छा रहते हुए भी मैंने तुम्हें अपनी दशा का सन्देश नहीं भेजा। अब इस अनाथ परिवार को बेटा! तुम्हें सौंपता हूँ, तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करना, इतना कहकर मेरे प्यारे पूज्य पिताजी मुझसे फिर कभी न बोल सके। पत्नीजी के देहान्त के ठीक दूसरे ही मास पूज्य पिताजी भी मुझ-जैसे हतभाग्य को रोता हुआ छोड़कर सन् १९१९ की ज्येष्ठ-शुक्ला अष्टमी को रात के ४ बजे इस असार संसार से सदा के लिए चले गये। विपुल सम्पत्ति के स्वामी मेरे पूज्य पिताजी का यह दुःखमय अन्त केवल धननाश के शोक में हुआ। मेरा सर्वस्व लुट गया और आज के दिन मैं अपने पूज्य पिताजी के भी पवित्र वात्सल्य से वंचित हो गया।

(८)

अपनी विधवा बहन सुखरानी देवीजी के ऊपर छोटे भाई हरिप्रसाद और पुत्री श्यामा के लालन-पालन का भार छोड़कर, मैं सन् १९१९ में ही 'गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ' में अध्यापक होकर चला आया। इस समय 'गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ' में श्री निरंजननाथ 'श्रीमानजी' ही मुख्याधिष्ठाता थे।

प्रियमित्र श्री दिवाकरजी तथा श्रीमान्‌जी के पवित्र प्रेम ने ही मुझ-जैसे दुःखी व्यक्ति को इस पहाड़ी के ऊपर ला बिठाया। यहीं श्री० प० प्रियव्रतजी विद्यालंकार से मेरा स्नेह हुआ। आप इस समय इस गुरुकुल के मुख्याध्यापक थे। आप लोगों के सम्पर्क से इस तपोवन में मुझे बहुत-कुछ शान्ति मिली; किन्तु घर की सम्पत्ति तथा एक साथ ही प्रियजनों के नाश की दुःसह वेदना अबभी सुकुमार हृदय में शूल के समान चुभ रही थी। १ वर्ष तक इस गुरुकुल में रहकर मैं गुरुकुल कांगड़ी चला गया और वहाँ २ वर्ष रहकर मैं पुनः गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आया। इस समय इस गुरुकुल में प० प्रियव्रतजी विद्यालंकार ही मुख्याधिष्ठाता और मुख्याध्यापक के पद पर कार्य कर रहे थे। आपने पुनः गुरुकुल की भूमि में मेरा उचित सम्मान तथा स्वागत किया। इस अवसर पर मैं आपकी पूज्या माताजी तथा सुशीला पत्नी श्रीमती सुशीला देवीजी को कभी नहीं भुला सकता। आप लोगों ने मुझे अपने परिवार का एक अंग मानकर मेरे लिए सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्रस्तुत करने में कोई भी कमी नहीं की थी। २ वर्ष तक इस गुरुकुल में रहकर घटना चक्र-वश मुझे पुनः गुरुकुल कांगड़ी जाना पड़ा। इस समय गुरुकुल कांगड़ी के गवर्नर श्री. प० विश्वम्भरनाथजी बी. ए., एल - एल. बी. और प्रधानाचार्य श्री. प्रो० रामदेवजी बी. ए. थे। श्री. प० विश्वम्भरनाथजी के आदर्श एवं श्लाघ्य पवित्र चरित्र और श्री० प्रो० रामदेवजी की सरलता तथा अपनी संस्था के लिए अद्भुत लगन का मेरे ऊपर बहुत ही प्रभाव पड़ा। गुरुकुल के जीवनकाल में यद्यपि प्रत्येक कुलवासी के ही प्रेम तथा कृपा का मैं ऋणी रहा और अब भी हूँ, फिर भी श्री० प० सुरेन्द्रनाथजी भट्टाचार्य सप्ततीर्थ एवं डाक्टर श्री राधा-कृष्णजी एम्. बी. बी. एस. प्रिन्सिपल 'आयुर्वेद-महाविद्यालय' के स्नेह-पूर्ण व्यवहार और उपकार-भार को मैं कभी नहीं भूल सकता। आप दोनों ही महानुभाव उस समय मेरे सुख-दुःख-संगी एवं जीवन के सच्चे साथी थे। इसी वर्ष वर्षा ऋतु में गंगाजी की भीषण बाढ़ से गुरुकुल कांगड़ी की प्रायः बहुत-सी इमारतें नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थीं। ब्रह्मचारियों के लिए शिक्षा तथा निवास की कठिनाई को अनुभव करके गुरुकुल के अधिकारियों ने नवम तथा दशम श्रेणी को गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ भेजने का निश्चय किया। फलतः इच्छा न होते हुए भी मुझे पुनः तीसरी बार गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जाना पड़ा।

(९)

पत्नीजी का देहान्त हुए लगभग ७ वर्ष हो चुके हैं। इस बीच में कितने ही विवाह आये; किन्तु मैंने विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। बड़े-बड़े प्रलोभन मुझे अपने निश्चय से नहीं डिगा सके; किन्तु भवितव्य बड़ा प्रबल होता है। भगवान् की इच्छा के आगे सबको ही अपना मस्तक झुका देना पड़ता है। अबकी बार जब मैं गर्मियों की छुट्टी में गुरुकुल से खैराबाद आया, तो मेरे चाचाजी ने वंशनाश का भय दिखाकर मुझे पुनः विवाह करने के लिए विवश किया। कारण, हम तीनों भाइयों में से किसी के भी कोई पुत्र अब तक नहीं हुआ था। फलतः मैंने अपने गुरुजनों की आज्ञा के आगे, इच्छा या अनिच्छा से अपना सिर झुका दिया और सन् १९२५ के आषाढ़ मास में वर्तमान पत्नी श्री इन्दिरादेवी वैद्य-शास्त्रिणी के साथ विधि-पूर्वक मेरा विवाह-कार्य सम्पन्न हो गया। अबकी बार गुरुकुल के वार्षिकावकाश के बाद मैं अपनी नवविवाहिता पत्नी, बहन एवं पुत्री श्यामादेवी के साथ गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ आया। मैं समझता था कि मेरे दुःख के दिन बीत गए; किन्तु यह एक भारी भ्रम था। दुर्दृष्टि की कुदृष्टि अब तक मेरी ओर जैसी-की-तैसी ही बनी हुई थी। मेरी पूर्वपत्नी की प्यारी स्मृति, पुत्री श्यामादेवी सहसा ही बीमार पड़ गई और २४ घंटे के भीतर ही सन् १९२५ की भाद्रपद शुक्ल एकादशी को केवल ९ वर्ष की भोली-भाली अवस्था में ही अपने अभागे पिताकी सौभाग्यहीन गोदी से भगकर अपनी दिवंगत स्नेहार्द्रहृदया जननी की गोद में चली गई। उस समय मैं लोक और परलोक दोनों में से कहीं का न रहकर एक प्रकार से पागल-सा हो गया। इस दुःखितावस्था में मैं आँखें फाड़-फाड़कर इन्द्रप्रस्थ-गुरुकुल के पहाड़ और जंगल में प्यारी पुत्री

श्यामा को खोजता फिरता था; किन्तु वह कहीं भी नहीं मिलती थी। मुझे मालूम हुआ कि भगवान मेरी प्यारी पुत्री को छीनकर पूर्वपत्नी के प्रति किए हुए अन्याय का इसी जीवन में मुझसे प्रायश्चित्त करा रहे हैं। अब मुझे गुरुकुल में रहना कठिन हो गया। पत्नी और बहन को खैराबाद भेजकर मानसिक शान्ति के लिए मैं तीर्थराज प्रयाग चला आया और फिर कभी पुत्री श्यामादेवी के क्रीड़ाक्षेत्र गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ को न गया।

(१०)

तीर्थराज प्रयाग आकर मैं 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' से सम्बद्ध 'हिन्दी-विद्यापीठ' में आचार्य के पद पर कार्य करने लगा। हिन्दी-विद्यापीठ वर्तमान 'हिन्दी-विश्वविद्यालय' यमुना के उस पार एक बहुत ही सुन्दर खुले हुए स्थान में स्थित है। मेरे व्यथित हृदय को बहुत कुछ सांत्वना तथा शान्ति मिली। यहीं मैंने श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर संस्कृत में 'श्रीबालबोधिनी' और हिन्दी में श्री गीतार्थचन्द्रिका' नाम की दो टिकाएँ लिखीं। कुछ दिनों के बाद मैंने समस्त परिवार को भी यहीं बुला लिया, यह सन् १९२५ की बात है। इस समय इस संस्था के प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री प० रामजीलाल शर्मा और व्यवस्थापक श्री प० द्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी थे। आप लोगों की संस्था-संचालन-नीति से उस समय मेरा आन्तरिक मतभेद क्यों न रहा हो; पर इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, कि आप दोनों ही महानुभाव 'हिन्दी-विद्यापीठ' और 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के सच्चे हित-चिन्तक और सुयोग्य अधिकारी थे। यहीं श्री प० अवध उपध्यायजी का भी सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। आप एक सरलहृदय साहित्य-सेवी और अपनी धुन के पक्के आदमी हैं। इस प्रकार सन् १९२६ के अन्त तक मैंने यथाशक्ति हिन्दी-विद्यापीठ की सभी उपयुक्त सेवाएँ की। इन्हीं दिनों सम्मेलन के मन्त्रिमण्डल में हिन्दी-प्रचार-कार्यालय मद्रास' की व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न उठा। कारण, तत्कालीन मन्त्रिमण्डल 'हिन्दी-प्रचार-कार्यालय मद्रास' के व्यवस्थापक श्री प० हरिहर शर्मा से सन्तुष्ट न था। मन्त्रिमण्डल ने मद्रास की परिस्थिति के निरीक्षणार्थ मुझे भेजने का निश्चय किया। फलतः दिसम्बर सन् १९२६ की २८ वीं तारीख़ को विद्यापीठ के आचार्य-पद का भार श्री प० अवध उपाध्याय को और अपने घर की व्यवस्था का भार स्वर्गीय छोटे भाई श्री हरिप्रसादजी को सौंपकर मैं मद्रास के लिए रवाना हो गया। १ जनवरी १९२७ को मैं मद्रास पहुँचा और वहाँ पूरे २ मास १३ दिन रहकर हिन्दी-प्रचार-कार्यालय तथा दक्षिण भारत के हिन्दी-प्रचार-कार्य का भली भाँति मैंने निरीक्षण किया। दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का कार्य इस समय बहुत ही सन्तोष-जनक हो रहा था। मैं हिन्दी-प्रचार-कार्यालय के सम्बन्ध में महात्मा गाँधीजी से आवश्यक बातचीत करने के लिए १३ मार्च को मद्रास से रवाना होकर १७ मार्च को गुरुकुल काँगड़ी पहुँच गया। इस समय महात्माजी गुरुकुल-रजत-जयन्ती के अवसर पर यहीं पधारे थे। २० मार्च को महात्माजी से हिन्दी-प्रचार-कार्यालय मद्रास के सम्बन्ध में आवश्यक बातचीत हुई। महात्माजी से मिलकर मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ; किन्तु खेद है कि तत्कालीन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मन्त्रिमण्डल की दुर्बलता के कारण 'हिन्दी-प्रचार-कार्यालय मद्रास' सम्मेलन से पृथक् होकर सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। गुरुकुल काँगड़ी से चलकर मैं २३ मार्च को प्रयाग पहुँचा। सम्मेलन के मन्त्रिमण्डल की तत्कालीन नीति से सहमत न होने के कारण मैं सम्मेलन की सेवा से एक-दो महीने के बाद ही मुक्त हो गया। सन् १९२७ के ११ जून को मैं तीर्थराज प्रयाग को अन्तिम प्रणाम करके लखनऊ आगया। लखनऊ आकर मैंने अपना एक औषधालय 'संजीवन-औषधालय' नाम से गनेशगंज में खोल दिया। इसके सिवाय ३ अगस्त से लखनऊ के सुप्रसिद्ध नवलकिशोर - प्रेस में पब्लिशिंग - डिपार्टमेण्ट के सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर भी काम करना आरम्भ कर दिया। इन दिनों औषधालय की स्थिति अच्छी हो जाने के कारण ५ महीने के बाद ही मैं अपना कार्य-भार श्री बा० प्रेमचन्दजी को सौंप कर सदा के लिए उस परतन्त्र जीवन से मुक्त हो गया।

औषधालय का कार्य अच्छा चल निकला। 'संजीवन-औषधालय' का नाम बदलकर 'श्री अवध आयुर्वेदिक फार्मेसी' कर दिया गया। इच्छा हुई कि अब सब भाई एक समीप में रहकर पारिवारिक सुख को भोगें। बड़े भाई श्री० प० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र को पत्रादि भेजकर वर्मा से लखनऊ बुलाया। वे सन् १९२८ के ५ दिसम्बर को लखनऊ आ भी गये। इधर मैं अपने सुखमय पारिवारिक जीवन के स्वप्न देख रहा था, उधर भगवान् कुछ और ही सोच रहे थे। छोटे भाई हरिप्रसाद के साधारण फ्लू ज्वर ने भयंकर रूप धारण किया। सब कुछ उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ और ३१ दिसम्बर सन् १९२८ के रात्रि में २ बजे के समय, लखनऊ में ही भैया हरिप्रसाद को कराल काल ने मेरे हाथों से छीन लिया। मेरे कोई सन्तान न थी; अतः मेरे पवित्र वात्सल्य-प्रेम के केन्द्र और जीवनाधार प्यारे हरिप्रसाद ही थे। हरिप्रसाद के वियोग-दुःख ने समस्त परिवार को एक बार फिर दुःख सागर में ढकेल दिया। उनकी भोली-भाली छोटी-सी आयु की विधवा पत्नी को देखकर आज भी वह दुःख वैसा ही हरा-भरा बना हुआ है। १२ वर्ष के वनवास के बाद हम तीनों भाई एक साथ मिले थे। समुद्र-यात्रा से थके हुए और अस्वस्थ बड़े भाई के हृदय के ऊपर छोटे भाई के वियोग-दुःख का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और छोटे भाई के देहान्त के ठीक एक महीने बाद ३ फरवरी १९२९ को मेरे पूज्य बड़े भाई भी अपनी कन्याओं तथा विधवा पत्नी को छोड़कर इस असार संसार से सदा के लिये चले गये। इस समय मुझे सान्त्वना तथा सब प्रकार की सहायता देनेवाले मेरे सहृदय मित्र प० रामकृष्णजी वैद्यभूषण ही थे। जहाँ लखनऊ के मेरे चिर परिचित, स्नेही मित्रों ने असमय में मुझे धोखा दिया, एवं मेरे साथ भीषण विश्वासघात किया। वहीं श्री० प० रामकृष्णजी वैद्यभूषण ने मुझ दुखिया को विपत्ति-वारिधि से पार करने में एकमात्र कुशल केवट का काम किया। इस समय मेरे परिवार में एक विधवा बहन, विधवा बहू (भ्रातृ जाया) विधवा भावज, बड़े भाई की दो पुत्रियाँ, मेरी पत्नी और मैं, कुल ७ व्यक्ति हैं। एक बहुत बड़े सम्पत्तिशाली परिवार के सर्व-नाश का यह चित्र और चरित्र देखकर विश्व की विनश्वरता के ज्ञान के साथ-ही-साथ जन-धन-सम्बन्धी सांसारिक ऐश्वर्य की कोई भी महत्ता नहीं रह जाती है। यही मेरे दुःखान्त जीवन-नाटक का एक छोटा-सा अंक है।

(१०२ पृष्ठ का शेषांश)

शहर में घुसा, तो पहले उन्हीं सज्जन की दूकान पड़ी; जिनको उन मित्रों ने मनहूस करार दे रखा था और कहा था कि वह 'प्रात लेइ जो नाम हमारा'—की प्रतिमूर्ति हैं। मैं ठिठका कि क्या करूँ। सबसे पहले इन्हीं की दूकान पड़ी है, अगर आगे बढ़ जाता हूँ, तो इनका अपमान होता है और सबसे पहले इन्हीं के यहाँ जाता हूँ, तो ग्राहक पाने की आशा पर पानी फिरता है। मनने कहा—ग्राहक मिलें, चाहे न मिलें, इनका अपमान नहीं करना चाहिये। जाकर उनको अभिवादन किया। वह ग्राहक बन गये और मेरी बोहनी भी कर दी। एक ओर रुपये पाने की खुशी हुई, तो दूसरी ओर आशंका और बढ़ी कि यह बोहनी ही अन्तिम न हो जाय। मगर मेरे १७ ग्राहक बन गये और सिर्फ दो दिन में ३४) मिल गये, जिसकी आशा मुझे स्वप्न में भी न थी। तबसे मुझे विश्वास हो गया कि कितने ही आदमी व्यर्थ को बदनाम कर दिये जाते हैं।

लड़कपन में नादानी से प्रकृति-विरुद्ध कुकर्मों द्वारा पुंसत्व या मर्दानगी खो बैठनेवाले निराश न हों।

क्योंकि स्वास्थ्यरक्षा और चिकित्सा-चन्द्रोदय सात भाग के लेखक

बाबू हरिदास वैद्य

वीर्य सम्बन्धी रोग धातुक्षीणता, प्रमेह-जिरियान, स्वप्नदोष, उपदंश या गर्मी, सोजाक और वातरोगों की चिकित्सा में सिद्धहस्त और अनुभवी हैं।

हज़ारों जिन्दगी से मायूस रोगी जिन्होंने अज्ञानता-वश, स्कूली लड़कों की सुहबत से, स्वभाव-विरुद्ध कुकर्मों द्वारा अपनी ज़िंदगी खराब कर ली थी, अपनी पुंसत्व-शक्ति खो दी थी, सांसारिक सच्चा सुख भोगने के बिलकुल नाक़ाबिल हो गए थे, बाबू हरिदासजी की सुचिकित्सा से फिर से मर्द हो गए और संसारी सुख भोगते हुए सुख से जीवन यापन कर रहे हैं।

सचाई का सुबूत

आजकल विज्ञापनबाजों के चटकीले-भड़कीले विज्ञापनों के धोखे में आकर लाखों लोग ठगा चुके हैं, इसलिये उनका सच्चे लोगों पर भी विश्वास नहीं। सचाई का सुबूत यही हो सकता है कि विज्ञापनदाता, जिन रोगियों को फायदा पहुँचा हो, उनके प्रशंसा-पत्रों की नक़ल भी विज्ञापनों में दे दिया करें। पर प्रमेह, धातुरोग एवं नामर्दी वगैरः रोगों के रोगी अपने ऐसे रोगों के सम्बन्ध की बातें सर्वसाधारण के सामने आने में शर्म की बात और देहज़ती समझते हैं। तो भी कुछ सज्जन ऐसे भी होते हैं, जिन्हें अपने रोग की बातें प्रकाशित कराने में कोई बुराई नहीं दीखती। हमारे बुरे काम और उनके अंजामों को देखकर, अगर दूसरे लोग उनसे बचें और सुखी हों, तो इससे बढ़कर पुण्य की बात और क्या हो सकती है? जिन सज्जनों ने हमें अपने प्रशंसा-पत्र प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है, उनमें से एक धनी-मानी, मध्यप्रदेश के मालगुज़ार बाबू कन्हैयालालजी पँवार महोदय के पत्रों का सारांश यहाँ प्रकाशित करते हैं। उन्होंने हमें ऐसा करने की आज्ञा दे दी है।

ध्यान रहे

सभी रोगियों का पत्र-व्यवहार गुप्त रक्खा जाता है। इस नियम का पालन कड़ाई से किया जाता है। अधिकांश बंद लिफ़ाफ़े की चिट्ठियाँ स्वयं बाबू हरिदासजी देखते हैं, चाहे विलंब क्यों न हो जावे, क्योंकि बुढ़ापे के कारण उनकी शक्ति दिन-पर-दिन घटती जाती है। जिनका उन पर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा है, वे अधीर भी नहीं होते और चिढ़ते भी नहीं।

लीजिए, देखिए

बाबू कन्हैयालाल साहब पँवार, मालगुज़ार मौज़ा पिंडरई, पोस्ट खवासा, ज़िला सिवनी-छपारा क्या लिखते हैं—

"मैं नीचे की चन्द लाइनें ईश्वर को साक्षी करके शपथपूर्वक लिखता हूँ। उद्देश्य यही है, कि मेरे अन्य भाई मेरी तरह खड्डे में गिरने और जीवननाश करने से बचें और जो गिर पड़े हों, वे बाबू हरिदासजी से इलाज कराकर नीरोग, निर्दोष और तन्दुरुस्त हों।

"मैंने अज्ञानावस्था में, मुष्टि-मैथुन (हस्त-मैथुन) द्वारा अपना सत्यानाश आप कर लिया था। जबकि शरीर की वृद्धि और विकाश का समय था, मैंने अप्राकृतिक कुकर्मों द्वारा इसकी वृद्धि और विकाश में बाधा डाली और उसे बेकाम बना लिया। मेरा सब कुछ खो गया था, कुछ भी बाकी नहीं था। मुझे एक-एक रात में तीन-तीन बार स्वप्न-दोष होते थे, हर बार पेशाब के साथ सफ़ेद-सफ़ेद धातु गिरती थी। शरीर पीलियेवाले की तरह पीला हो गया था। कोई काम करने की ताक़त न रहती थी। सच्चे संसारी सुख के लिये रोता और तरसता था। मैं अपनी ज़िन्दगी से आरी और सब तरह से निराश था। पर मेरे भाग्य में संसार का सुख बदा था, इसलिये मेरी तक़दीर ने ज़ोर खाया। बाबू साहब की लिखी 'चिकित्सा-चन्द्रोदय' मेरी नज़र आई। ईश्वर की कृपा से, मेरा बाबू साहब से पत्र-व्यवहार हुआ। आपके पहले ही पत्र से, आपके प्रति मेरे हृदय में अखण्ड श्रद्धा और विश्वास का उदय हुआ।

"मैंने बाबू साहब के पास २००) दो सौ रुपए के दो नोट और अपने रोग का पूरा विवरण लिख भेजा। आपने मुझे समय-समय पर अनेक दवाइयाँ दीं। मैंने उन्हें विधिवत्, पथ्यापथ्य का ध्यान रखकर, सेवन किया। शुरू से ही दवाओं ने फ़ायदा दिखाना शुरू किया और अंत में ४।१० महीने दवा सेवन करके मैं सब तरह से नीरोग और सुखी हो गया। पहले स्वप्न-दोष बंद हुए। धातु का पेशाब के आगे गिरना रुका। चंदनादितेल की मालिश से शरीर लाल हो गया और कुंदन की तरह दमकने लगा। शरीर में शक्ति का स्रोत उमड़ने लगा। आनंद-वर्द्धक और सुधावलेह के सेवन से सुस्ती एकदम रफूचक्कर हो गई तथा दिमाग़ में तरी, हृदय में शांति का संचार हुआ। शरीर में चौगुनी शक्ति और चेहरे पर रौनक़ आ गई। बहुत क्या, मुझे बेहद फ़ायदा हुआ। धातुक्षीणता प्रमेह, स्वप्न-दोष निर्बलता, शरीर का पीलापन, इंद्रिय का ढीलापन और उसकी कमज़ोरी वग़ैरः रोग जो मेरे सत्यानाशी कामों से उत्पन्न हुए थे, एक-एक करके रफ़ा हो गए। अब मैं पूर्ण स्वस्थ और नीरोग हूँ। बाबू साहब दीर्घजीवी हों, यही मेरी ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना है।"

बाबू कन्हैयालालजी सक्सेना, हेडमास्टर, स्कूल महीदपुर, परगना पछार रियासत गवालियर लिखते हैं—

"श्रीमान् के औषधालय से यह सेवक तख़मीनन ५०) की दवा मँगाकर इस्तेमाल कर चुका। मुझे आपकी दवाओं से अच्छा लाभ हुआ। कितने ही सज्जन मेरी शक्ल देखकर कहते हैं, कि पहले से आपकी शक्ल बहुत ही अच्छी है। मैं श्रीमान् का कृतज्ञ हूँ और रहूँगा।"

बाबू कामताप्रसादजी साहब, वकील, आनरेरी मैजिस्ट्रेट व सुपरिंटेंडेंट जेल बस्ती लिखते हैं—

"पहले मैं बिलकुल काम न कर सकता था, पर अब आपकी दवाओं के सेवन से सब काम कर लेता हूँ। आपके "एरंड-पाक" से कब्ज में भी विशेष लाभ हो रहा है।

परमात्मा आपको चिरंजीवी रक्खे। भारतवर्ष का जो महान् उपकार आपने "चिकित्सा-चन्द्रोदय" (सात भाग) और "स्वास्थ्य-रक्षा" इत्यादि अमूल्य पुस्तकों की रचना करके किया है, वह मेरे-ऐसे तुच्छ मनुष्य की लेखनी से बाहर है। वास्तव में, इन पुस्तकों ने आपके नाम और कीर्ति को अचल-अमर कर दिया है।"

बस, समझदारों के लिये इतना ही क्या कम है!

हमारी दो बातें

अगर आपको सचमुच ही अपनी ज़िंदगी प्यारी है, अगर आप गृहस्थ-सुख भोगने के अभिलाषी हैं, तो चिंता न कीजिए। बाबू हरिदासजी को अपने रोग का पूरा विवरण, साफ़ काग़ज़ पर, साफ़ नागरी-अक्षरों में, लिख भेजिए। साथ ही रोग की व्यवस्था के लिये कम-से-कम ॥) या एक रुपए के पोस्टेज स्टांप भेजिए, आपको लिख भेजा जायगा, कि क्या रोग है, कितने समय में, किन-किन दवाओं से आराम होगा और कितना ख़र्च पड़ेगा।

विशेष सूचना

यद्यपि कारोबार कलकत्ते में ही है, तथापि बुढ़ापे के कारण बाबू हरिदासजी ज़्यादातर "मथुरा" में ही रहते हैं। अतः पत्र-व्यवहार नीचे के पते पर करना चाहिए—

हरिदास ऐंड कम्पनी

लाल दरवाज़ा—गंगा-भवन, मथुरा (यू० पी०)

सभी जगह की पुस्तकें

हमसे मँगाइये

बालक कार्यालय, पुस्तक-मन्दिर, पुस्तक-भवन, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, हिन्दी-मन्दिर, साहित्य-भवन, छात्र-हितकारी-कार्यालय, तरुणभारत-ग्रन्थावली, साहित्य-मन्दिर, हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी, कलकत्ता-पुस्तक-भण्डार, बलदेव-मित्र-मंडल, ज्ञान-मंडल आदि—किसी भी प्रकाशक की पुस्तक हमसे मँगाइये। सभी जगह की पुस्तकों पर 'हंस' के ग्राहकों को -) रुपया कमीशन दिया जायगा।

निवेदक—मैनेजर, सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी।

हिन्दी के दो नये उपन्यास

'प्रसाद' जी-कृत

कंकाल

मू० ३)

श्रीमान् 'प्रसाद' जी-कृत 'कंकाल' की तारीफ़ श्रीमान् प्रेमचन्द ने भी मुक्त-कण्ठ से की है—इसी अंक में पढ़िए।

'उग्र' जी के 'शराबी' का आनन्द पढ़कर ही लिया जा सकता है। अनोखी चीज है।

'उग्र'-लिखित

शराबी

मू० २)

आज ही आर्डर भेजिए

हास्य-रस की दो नवीन पुस्तकें—

मेरी हजामत

॥=)

हास्य-रस के अभिनव और श्रेष्ठ लेखक श्रीअन्नपूर्णानन्दजी लिखित

मगन रहु चोला

॥।)

जब गृहस्थी की झंझटें और रोज़गार की परीशानियाँ आपको तंग कर डालेंगी, तब यही दो पुस्तक आपका साथ देंगी। इनके अन्तर में हास्य-रस का ऐसा कुशल नट, ऐसा चंचल विदूषक छिपा बैठा है, जो आपके [illegible] दिल को गुदगुदाकर आपको आनन्द-मग्न कर देगा। तुरन्त ही एक-एक प्रति मँगाकर पढ़िए।

निवेदक—मैनेजर, सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी।

बुद्धिमान् मनुष्य चमत्कार को ही नमस्कार किया करते हैं !

सत शिलाजीत।

सब तरह के प्रमेहों के लिये राम-बाण है। सिर्फ तीन ही मात्रा के सेवन से दिलो-दिमाग में ताजगी आने लगती है। पूरे ४० दिन सेवन करने से अत्यन्त कमजोर मनुष्य भी हट्टा-कट्टा हो जाता है। इससे धातुक्षीणता, नपुंसकता, स्वप्नदोष, हर तरह के दर्द, गठिया, विषमज्वर, प्रदर और मंदाग्नि दूर होकर बलवीर्य का भंडार भर जाता है। इसी वस्तु को लोग १) २) ३) रु० तोला तक बेंचते हैं, परन्तु हम अपने ग्राहकों को लागत मात्र पर देते हैं मू० ५ तोला २॥) १० तोला ४॥) २० तोला ८) ४० तोला १७)

ब्राह्मीबूटी-वटिका

आजतक की वैज्ञानिक और आयुर्वेद की खोज से यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है, कि ब्राह्मी के समान स्मरण-शक्तिवर्द्धक और मस्तिष्क सुधारनेवाली दूसरी दवा नहीं है। हमने इसी बूटी के योग से, कई अत्यन्त चमत्कारिक औषधि मिलाकर ये वटिका तैयार की हैं। इनके सेवन से उन्माद, पागलपन, मृगी, हत्यादि कठिन-से-कठिन रोग भी नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य अद्भुत स्मरण-शक्ति-वाला हो जाता है। विद्यार्थी, वकील, बैरिस्टर और अध्यापकों को अवश्य सेवन करनी चाहिए। मू० १ शीशी २) ३ शीशी ५॥)

मँगाने का एक मात्र पता:—श्री परोपकारी-भवन, नं० ७ हरद्वार

२१ साल के प्रयोग से) **११००) इनाम** (पूर्णयशस्वी साबित हो चुका है

सुप्रसिद्ध वैद्य मोहनलालसिंह मिरज वाले का

मदनमस्त पाक (रजिस्टर्ड)

अत्यन्त धातु पौष्टिक, शक्तिवर्द्धक और कामोत्तेजक मूल्यवान् भिन्न प्रकार की ६० वनस्पतियों द्वारा बनाया गया है। इस पाक से स्वप्नावस्था और पेशाब के साथ धातु का गिरना बन्द न हो तो दाम वापिस करेंगे हस्तमैथुन से अथवा अधिक स्त्री-प्रसंग के कारण आई हुई नामर्दी, कमजोरी धातु का पतलापन, अशक्तता, स्त्री की इच्छा होते ही शीघ्र वीर्य गिरजाना, गरमी कोई भी गरमा, कमर का दरद, बीमारी से उठे पीछे की अशक्तता, हाथ पैर और पेशाब का दाह, यह सब रोग एक ही डिब्बे से काफूर होकर दस्त साफ होता है। भूख शक्ति और तोल एक दम बढ़ जाती है, शरीर को लोहे समान मजबूत बना के वीर्य को पुष्ट और सन्तति को योग्य बनाता है। इस पाक से ६० वर्ष के वृद्धों को भी युवा अवस्था का अनुभव होने लगता है, तो क्या युवकों को पुरुषत्व, बल, तेज प्राप्त नहीं हो सकेगा? इसके प्रयोग से स्त्रियों का सुफेद और लाल प्रदर नष्ट होकर गर्भाशय शुद्ध हो जाता है। २१ दिन तक दोनों समय की खुराक ८४ तोले के डब्बे का मूल्य ५) रु० डा० ख० १३ आना। कोई परहेज नहीं सेवन विधि डब्बे के साथ भेजते हैं। इसमें ६० भिन्न-भिन्न वनस्पतियों का संयोग न हो व धातु पौष्टिक और शक्ति वर्द्धक साबित न हो तो शर्त से ११००) रु० इनाम रूप में देंगे।

सूचना—कृपया अन्य किसी का अनुभव हमारे सिर न रखें। इस पाक की प्रशंसा करना व्यर्थ, सिर्फ इतना ही कहदेना काफी है कि जिस किसीके रोगके मुक्त होनेका समय आ गया होगा वही इस पाक को मँगाने की इच्छा कर सकेंगे।

वैद्य मोहनलाल एस० औषधालय पोस्ट मिरज, S. M. C.

राजा महाराजाओं के महलों से लेकर गरीबों की झोंपड़ियों तक जानेवाली

एक मात्र सचित्र मासिक-पत्रिका

कविवर अयोध्यासिंहजी उपाध्याय

'वीणा' समय पर निकलती और पठनीय एवं गवेषणा-पूर्ण लेखों से सुशोभित रहती है।

साहित्याचार्य रायबहादुर जगन्नाथप्रसाद 'भानु'

'वीणा' में प्रायः सभी लेखों कविताओं और कहानियों का चयन अच्छा होता है। सम्पादन कुशलता के साथ होता है।

वीणा

सम्पादक—

श्रीकालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर'

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा

'वीणा' के प्रायः सब अंक पठनीय निकलते हैं।

सम्पादन बहुत अच्छा हो रहा है।

पं० कृष्णबिहारीजी मिश्र

बी. ए. एल्-एल्. बी.

भू. पू. सम्पादक 'माधुरी'

'वीणा' का सम्पादन अच्छा होता है। इसमें साहित्यिक सुरुचि का अच्छा ख्याल रखा जाता है।

प्रकाशक—मध्य-भारत-हिन्दी-साहित्य-समिति

मिलने का पता—मैनेजर, 'वीणा',

इन्दौर INDORE, C. I.

आप भी लखपती बन जाइए।

सुगन्धित तैलों के नुस्खे (ले० वैद्यभूषण श्रीमोहनलाल कोठारी)
लेखक ने हजारों रुपए व्यय करके देश के सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तैलों के नुस्खे प्राप्त किए हैं और अपने बीस साल के अनुभव को हृदय खोलकर जनता के सामने रख दिया है। नुस्खे तो इस पुस्तक में सैकड़ों तैलों के दिए गये हैं, जिनमें कुछ के नाम ये हैं—हिमसागर तैल, केशरान तैल, बुद्धिवर्द्धक तैल, मनमोहिनी तैल, कलकत्ते के डॉ० नगेन्द्रनाथ सेन को करोड़पती बनाने वाला केशरञ्जन तैल, जवाकुसुम तैल, हिमकल्याण तैल, पं० चन्द्रशेखर वैद्यशास्त्री को लखपती बनाने वाला ब्राह्मीविलास तैल, मालती तैल आदि। तैलों के साफ करने और खुशबुओं के देनेका विधान भी समझा दिया गया है। मूल्य सिर्फ १), डा० महसूल ।)

शर्बतों का रोज़गार (लेखक बा० पीतमलाल जी, एम० एस-सी०, एल-एल० बी० एडवोकेट)
गर्मियों में पीने वाले बहारदार शर्बतों और सोडावाटर बनाने का विधान और अनेक नुस्खे दिए गये हैं, मूल्य १)

सामुद्रिक विद्या (लेखक पं० चन्द्रशेखर वैद्यशास्त्री)
मुख आदि अङ्गों को देखकर ही चोर, ठग, नेक-बद, धनी-निर्धन, बाँझ-विधवा, जिन्दगी और मौत की बात आप बता सकते हैं। लिथो के लगभग ५० चित्र २५० पृष्ठ, मूल्य सिर्फ़ १॥) डाक-महसूल ।=)

साइनबोर्ड साजी साइनबोर्ड बनाना सीखकर दर्जा ३-४ तक पढ़ा ३-४ रु० रोज पैदाकर सकता है। मूल्य १)

साबुन की विद्या—साबुन बनाने के सरल विधान और सैकड़ों नुस्ख़े, मूल्य १)

मँगाने का पता—मैनेजर, ब्राह्मी-प्रेस, अलीगढ़।

५०००) की चीज़ ५ में

मेस्मिरेज़म विद्या सीख कर धन व यश कमाइए

मेस्मिरेज़म के साधनों द्वारा आप पृथ्वी में गड़े धन या चोरी गई चीज़ का क्षण-मात्र में पता लगा सकते हैं। इसी विद्या के द्वारा मुकदमों का परिणाम जान लेना, मृत पुरुषों की आत्माओं को बुलाकर वार्तालाप करना, बिछुड़े हुए स्नेही का पता लगा लेना, पीड़ा से रोते हुए रोगी को तत्काल भला-चंगा कर देना, केवल दृष्टि-मात्र से ही स्त्री-पुरुष आदि सब जीवों को मोहित एवं वशीकरण करके मनमाना काम कर लेना आदि आश्चर्यप्रद शक्तियाँ आ जाती हैं। हमने स्वयं इस विद्या के ज़रिये लाखों रुपया प्राप्त किए और इसके अजीब अजीब करिश्मे दिखाकर बड़ी-बड़ी सभाओं को चकित कर दिया। हमारी "मिस्मरेज़म विद्या" नामक पुस्तक मँगा कर आप भी घर बैठे इस अद्भुत विद्या को सीखकर धन व यश कमाइए। मय डाक-महसूल मूल्य सिर्फ ५) रु०

हज़ारों प्रशंसा-पत्रों में से एक

बाबू सीताराम जी, बी० ए०, बड़ा बाजार कलकत्ता से लिखते हैं—मैंने आपकी 'मेस्मिरेजम विद्या" पुस्तक के जरिए मेस्मिरेज़म का खासा अभ्यास कर लिया है। मुझे मेरे घर में धन गड़ा होने का मेरी माता द्वारा दिलाया बहुत दिनों का सन्देह था। आज मैंने पवित्रता के साथ बैठकर अपने पितामह की आत्मा का आवाहन किया और गड़े धनका प्रश्न किया। उत्तर मिला—"ईन्धन वाली कोठरी में दो गज गहरा गड़ा है।" आत्मा का विसर्जन क के मैं स्वयं खुदाई में जुट गया। ठीक दो गज की गहराई पर दो कलसे निकले। दोनों पर एक-एक सर्पबैठा हुआ था एक कलसे सोने-चाँदी के जेवर तथा दूसरे में गिन्नियाँ व रुपए थे। आपकी पुस्तक यथा नाम तथा गुण सिद्ध हुई

मँगाने का पता—मैनेजर मेस्मिरेज़म हाउस नं० १०, अलीगढ़

पढ़िये ! संचित कीजिये !!

(मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सामयिक उपन्यास)

मंच

लेखक—

राजेश्वरप्रसादसिंह

पृष्ठ-संख्या २५२ सजिल्द मूल्य १॥)

कुछ पंक्तियाँ:—

"……' मेरी समझ में नहीं आता कि आपको क्या कहकर लिखूँ। मेरी जैसी अवस्था में कदाचित सभी को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता होगा। जान पड़ता है आपकी कुटी में किसी दूसरे को प्रवेश करने का अधिकार नहीं! इसीलिए, कदाचित आपने घर से दूर कुटी बनाई है। पत्रों से तपस्या में बाधा अवश्य पड़ती होगी। मैं विघ्न न डालता, किन्तु विवश हूँ! धृष्टता क्षमा कीजियेगा भक्तों को क्या कभी दर्शन भी न मिलना चाहिए? एक बार दर्शन मिले तो शान्ति प्राप्त हो। आशा लगाये रहूँगा। देखूँ भाग्य-सूर्य कब उदित होता है। …… …… ……

……

हेम।

पत्र पढ़कर घुटनियों पर कुहनियाँ टेके, हथेलियों पर सिर रखे व्रजराज कई क्षण फर्श की ओर ताकते हुए। निस्तब्ध बैठे रहे। उषा की अरुण छवि तपस्वी को कुटी से वाटिका की ओर खींचने लगी वाटिका इतना सुन्दर है, साधु को ज्ञात न था, अरुणोदय की सौरम्भिक नीरवता में उद्यान की छोटी-छोटी पगडंडियाँ हरे-भरे लता-भवन और कुसुम-कुंज, एक अद्भुत स्वर्गीय प्रदेश के बाह्य-दृश्य से जान पड़ने लगे; सौन्दर्य ने बाण चलाया, समाधि टूट गई! किन्तु विचित्र बात थी, साधु की तपस्या भंग हो जाने पर दुःख नहीं हुआ, खेद हुआ इस बात का कि वह इतने दिनों सोता क्यों रहा!" (अध्याय २५-पृष्ठ १६६)

THE VAITARANI:—"An original novel. There is no flaw in the style. The development of characters is after the manner of master writers like Sarat Babu or Rabindranath of Bengal……".

मिलने का पता—श्री० नन्दकिशोरजी, ५०६ कटरा, इलाहाबाद

बाबू वृन्दावनलाल वर्मा एडवोकेट की अमर मौलिक रचनायें

गढ़ कुण्डार सर्व श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास पृष्ठ संख्या ४५० मूल्य २॥) रुपया।

लगन हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम रोमांच ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास। पृष्ठ संख्या लगभग १२५ मूल्य केवल ।॥) बारह आने।

पुस्तक को जबतक खत्म नहीं कर लिया जाता चैन नहीं पड़ता "भारत" इलाहाबाद।

'कहानी के सारे पात्र सजीव चित्र हैं'
'प्रताप' कानपूर।

प्लाट के गूंथने में बड़ी चतुराई से काम लिया गया है। भाषा लेखक की टकसाली है। लेखन शैली भी स्वाभाविक है। "कर्मवीर" खण्डवा।

"हिन्दी में ऐसे उपन्यास बहुत कम हैं"
'सुधा' लखनऊ।

संगम इकदम मौलिक सामाजिक उपन्यास पृष्ठ संख्या ३२५ मूल्य केवल १॥) रुपया।

"प्रस्तुत उपन्यास बुन्देलखण्डी वायुमण्डल का एक सजीव चित्र है।" "सुधा" लखनऊ।

प्रत्यागत अपने ढंग का अनूठा सामाजिक उपन्यास पृष्ठ संख्या २५० के लग-भग मूल्य केवल १॥) रुपया।

"इस उपन्यास में उत्तम औपन्यासिकता का निदर्शन होता है। भाषा और भावों का सम्मिश्रण बहुत ही उत्तम हुआ है। आदि से अंत तक घटना-क्रम खूब आकर्षक है। वर्माजी की प्रौढ़ लेखनी पर बैठा हुआ पाठक का मन बड़े मजे में घटना क्रम की उलझी सड़क पर चला जाता है। पुस्तक प्रत्येक समाज-सुधार-प्रेमी के अवश्य पढ़ने योग्य है। जाग्रत युवक-समाज में ऐसी पुस्तकों का नित्य पाठ होना चाहिये।" "सुधा" लखनऊ।

हृदय की हलोर हृदय की हिलोरों का सजीव चित्र एक अनूठा गद्य-काव्य पृष्ठ-संख्या १५० मूल्य केवल ॥)

पुस्तक मिलने का पता—स्वाधीन-प्रेस, झाँसी।

युवक

शक्ति, साहस और साधना का मासिक-पत्र

भारत-भर में एक ही आवाज़

'प्रताप' कानपुर—

'युवक' में जो लेख, कवितायें, चित्र-आदि दिए गये हैं, वे दर-असल नौजवानों में जान फूँकने वाले हैं।

हिन्दी-प्रचारक, मद्रास—

युवक के एक-एक पृष्ठ में ओज है, तेज है, बिजली है। हिन्दी आकाश मण्डल का यह अभूत-पूर्व सितारा है।

त्याग-भूमि अजमेर—

साहसी और ओजस्वी साहित्य शुरू से अन्त तक रचनाओं से भरा, जो युवक-हृदय में आशा उत्साह और जीवन उत्पन्न करने वाली है।

'विशाल-भारत' कलकत्ता—

'युवक' के लेखों में जीवन है, जोश है, जिन्दा-दिली है, खतरे में पड़ने की आशंका का अभाव है। एक वाक्य में 'युवक' युवक ही है।

'देश' पटना—

'युवक' मुर्दों में रूह फूँकनेवाला, सोये हुए को जगाने वाला और जागे हुए को युद्ध-क्षेत्र में भेजने वाला है।

'अर्जुन' दिल्ली—

'युवक' के सब लेख, चित्र कवितायें, कहानियाँ युवकों को बलवान, साहसी और विद्रोही बनाने वाली है।

सालाना चन्दा ४) नमूने के लिए ।=)

युवक-आश्रम, पटना

'हंस' के नये विशेषांक पर सम्मतियाँ

हिन्दी के स्वनामधन्य प्रसिद्ध लेखक राय कृष्णदासजी लिखते हैं—

प्रिय वर्माजी,

'हंस' देखा बहुत ही सुन्दर हुआ है; किन्तु केवल आन्तरिक—मैटर मेकप और छपाई तीनों—ही। × × × × × अस्तु इस सफलता के लिये बधाई।

आचार्य प्रवर पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी लिखते हैं—

'हंस' का विशेषांक बहुत अच्छा निकला।'

हिन्दी के स्वनामधन्य गल्प-लेखक पं० ज्वालादत्तजी शर्मा लिखते हैं—

प्रिय प्रवासीजी,

× × × प्रवास में रहने के कारण आपको विशेषांक अच्छी तरह नहीं पढ़ सका हूँ। जितना मैंने देखा है, बहुत अच्छा निकला है। लेखों का चयन बड़ी योग्यता से हुआ है। सजावट की तो बात ही क्या है, जहां आपने हाथ लगाया शोभा आ जाती है। ऐसा अच्छा विशेषांक निकालने के लिए बधाई है।

पंडित सूर्यनारायणजी व्यास ज्योतिषाचार्य लिखते हैं—

प्रिय वर्माजी, वन्दे।

'हंस' का कवर खोलतेही जी फड़क उठा! आप स्वयं बधाई बतलाते हुए भलेही यह कहें कि 'चाहिए वैसा नहीं निकला'; परन्तु मैं आपका यह विनय समझ लेता हूँ। वास्तव में 'हंस' तो विशेषांकों में सिरमौर बनकर निकला है! हाथ में से छोड़ने को जी नहीं चाहता! कहानियाँ भी अच्छी हुई हैं। हिन्दी-संसार इस अंक की अवश्य कदर करेगा यह मेरा 'भविष्य' है। छपाई-सफाई कितनी नयन-मनोहर है—गजब है!! 'हंस' का यह विशेषांक नहीं है—साहित्य की विशेष वस्तु है! एक बार जिसकी नजर जायेगी, वह मँगाकर छाती से चिपकाए रखेगा। कल से मुझे चैन नहीं मिली, जब तक चुन-चुनकर कहानियाँ एकबार पढ़ न गया। कितना आकर्षण है!! भाई जी, आपकी सफलता पर हार्दिक बधाई!!!

प्रताप-सम्पादक पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' लिखते हैं—

प्रिय प्रवासीलालजी,

'हंस' खूब निकला। बधाई है। छपाई के कई अच्छे डिज़ाइन देखे। जी खुश हो गया। आखिर आप आर्टिस्ट जो ठहरे। और फिर—

नीर-क्षीरविवेके हंसालस्यंत्वमेवतनुषेचेत्।
यद्यस्मिन् शुभान्यः कुञ्चयतः पाठयिष्यतिकः?

'प्रसाद' जी का 'जागरण' इतना मदिर-अलस-भाव भरा है कि आत्मा तृप्त हो गई। लेख, कविता, कहानी, सब का चयन बड़ा बढ़िया है। एक बार फिर बधाई।

स्वराज्य के सहकारी सम्पादक पं० गोपीवल्लभजी लिखते हैं—

भाई प्रवासी,

'हंस' का विशेषांक प्राप्त हुआ, देखकर चित्त को परम संतोष हुआ। अङ्ग को छपाई-सफाई तो हिन्दी में अद्वितीय ही कही जा सकती है। लेख, कविता, चित्र सभी सुन्दर जान पड़ते हैं।

बाल-सखा-सम्पादक ठा० श्रीनाथसिंहजी लिखते हैं—

भाई प्रवासीलालजी,

'हंस' का विशेषांक बेशक बड़ा सुन्दर निकला है। पहले तो बड़ी देर तक पृष्ठों को उलट कर मैं उसकी सजावट ही देखता रहा। लेखों को सजाकर छापने का आपका ढंग नया है। इस दिशा की ओर हिन्दी वालों को आप एक नवीन मार्ग दिखा रहे हैं। सजावट जितनी आकर्षक है, अन्दर की सामग्री भी उतनी ही मनोरञ्जक, उपयोगी और उत्तेजक है। बाबू जयशंकरप्रसादजी की इस बार की कविता मुझे पसन्द आई। आरम्भ वाला राय कृष्णदासजी का लेख मुझे उतना अच्छा नहीं लगा; पर यह कहूँगा कि वह सुपाठ्य है। कहानियों में मुझे 'शिकार' और 'मजदूर' बहुत अच्छी लगीं। ये दो कहानियाँ न होतीं, तो विशेषांक में वह मजा न आता। इतनी जल्दी 'हंस' को इतने ऊँचे दर्जे का पत्र बना देना, आपकी लगन का ही काम है। मैं इस अवसर पर आप की बिना प्रशंसा किये नहीं रह सकता। आपका यह विशेषांक बहुत ही सुन्दर निकला है।

हिन्दी के उदीयमान लेखक पं० सूर्यनाथजी तकरू बी० ए० लिखते हैं—

प्रिय बंधु प्रवासीलालजी,

'हंस' का विशेषांक मिला। यह आशातीत सुन्दर है। इसका अंतरंग और बहिरंग समान सुंदर है। पाठ्यसामग्री सभी बहुत ऊँचे दर्जे की है। कहानियां प्रायः सभी सुन्दर हैं। विशेषकर श्री श्रीनाथसिंह की 'चांदरानी' एक ही है। कविताओं का क्या कहना। प्रसादजी, गुप्तजी, मिलिन्दजी की कृतियाँ अजर-अमर हैं। छपाई-सफाई में तो आप 'इंडियन प्रेस' को टक्कर ले रहे हैं। ऐसे सुंदर विशेषांक के प्रकाशन पर मैं आपको हृदय से बधाई देता हूँ और भेजने के लिये हृदय से धन्यवाद।

हिन्दी के प्रख्यात और पुराने लेखक पं० सन्तरामजी बी० ए० लिखते हैं—

प्रिय महोदय,

आपका कृपा-पूर्वक भेजा हुआ 'हंस' का विशेषांक मिला, उसके लिए धन्यवाद। आपने बहुत बढ़िया चीज़ तैयार की है। कहानियों का ऐसा सुन्दर संग्रह पहले शायद ही किसी दूसरी हिन्दी-पत्रिका ने दिया हो। सभी कहानियाँ मनोरंजक और मानव प्रकृति के गहरे अध्ययन का फल है। श्रीयुत रामनारायणजी मिश्र का 'योरोप की कुछ विशेषताएँ' शीर्षक लेख बहुत शिक्षाप्रद है। विशेषांक के चित्र भी बड़े सुंदर और भाव-पूर्ण हैं। आपको बधाई!

हिन्दी के उदीयमान सुकवि और कहानी लेखक पं० जनार्दनप्रसाद झा द्विज एम० ए० लिखते हैं—

भाई वर्माजी,

'हंस' का यह संयुक्तांक (जो सब तरह से विशेषांक कहलाने-योग्य है) बहुत अच्छा निकला। कविताएँ, कहानियाँ, तस्वीरें, सभी सजीव और सुन्दर हैं। एकाध चीज़ भरती की भी आ गई है ज़रूर; मगर वह भी अपने आस-पास वाली प्रथम श्रेणी की रचनाओं के लिये शृङ्गार का ही काम करती है। इतने भाव के साथ, शायद, अबतक मैं कोई अन्य विशेषांक नहीं पढ़ सका था। कला सम्बन्धी सौन्दर्य, सुरुचि, सूक्ष्मता और स्वच्छता का जितना अच्छा परिचय 'हंस' दे रहा है, उतना अगर और पत्र-पत्रिकायें देने लगें, तो हमारा साहित्यिक गौरव उत्फुल्ल हो उठे।

अभ्युदय के भू० पू० सम्पादक मोहनसिंहजी सेंगर लिखते हैं—

माननीय भाई वर्माजी,

सप्रेम वन्दे। कृपाकार्ड और 'हंस' का विशेषांक मिला। ज्योंही विशेषांक पर दृष्टि गई—हृदय खिल उठा। मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि आप ३॥) रु० वार्षिक के पत्र का ऐसा सुन्दर, आकर्षक एवं निराला विशेषांक निकाल सकेंगे। मुखपृष्ठ और विज्ञापन के पृष्ठ उलटने के बाद लेखों और कविताओं की उच्चता, सज धज और शीर्षक तथा लेखक का नाम देनेका आपका अपना नवीन ढंग देखकर तो हृदय इतना प्रफुल्लित हुआ कि यदि आप पास होते तो संभव है, पीठ ठोंकने की गुस्ताखी कर बैठता। विशेषांक से आजका दिन जिस मज़े से कट रहा है, वह लिख नहीं सकता। करीब आधा पढ़ लिया। सब लेख, कविताएँ और कहानियाँ एक एक से बढ़ कर हैं। मैं नहीं समझता, किसको अच्छा कहूँ। मैंने तो जो भी पढ़ा, कोई निम्नकोटिका इस विशेषांक के अयोग्य नहीं जँचा। यह तो पिछले विशेषांक से भी बाज़ी मार ले गया। इसे देखकर हृदयको जो आनन्द हुआ—लिख नहीं सकता। लेखों आदि के चयन से मुद्रण कहीं अधिक बढ़िया है। इस सफलता के लिये हार्दिक बधाई!

बालक-सम्पादक पं० पारसनाथजी त्रिपाठी लिखते हैं—

प्रियवर वर्माजी,

इधर कई दिनों तक बाहर रह कर कल घर आया। 'हंस' का विशेषाङ्क पाकर तबीयत फड़क उठी। एक रातमें इसे समाप्त कर डाला! कविताओं और कहानियों का बड़ा सुंदर संग्रह हुआ है। चित्रों का चुनाव भी अच्छा है। इतना सुन्दर विशेषाङ्क निकालने के लिये आपको बधाई है। राय कृष्णदास के लेख जैसे लेख हिन्दी-संसार के लिये नई चीज़ हैं। इस तरह के अन्य लेखकों के लेख भी आप प्रकाशित करें। यों तो हिन्दी-संसार में हंस का स्थान पहले से ही ऊँचा है, पर इस विशेषांक से उसकी प्रतिष्ठा पहले से कहीं अधिक बढ़ गयी है। फिर भी आपको बधाई!

विषय-सूची

	लेखक	पृष्ठ
१.	[illegible] (कविता)—[लेखक, श्रीयुत बाबू जगन्नाथप्रसादजी 'मिलिन्द']	१
२.	[illegible] (संस्मरण)—[लेखक, श्रीयुत राय कृष्णदासजी]	२
३.	[illegible] (कविता)—[लेखक, श्रीयुत रामनाथजी 'सुमन']	८
४.	[illegible] (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत राजेश्वरप्रसादसिंहजी]	९
५.	[illegible] (कविता)—[लेखक, श्रीयुत बाबू हरिकृष्णजी 'प्रेमी']	१७
६.	[illegible] (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत जनार्दनप्रसादजी झा 'द्विज' एम० ए०]	१८
७.	[illegible] (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत बाबू राधाकृष्णजी]	२५
८.	[illegible] (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत राय कृष्णदासजी]	२९
९.	मेरी नैपाल-यात्रा (यात्रा-वर्णन)—[लेखक, श्रीयुत पं० केदारनाथजी शर्मा चित्रकार]	३१
१०.	संकोच त्याग (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत बाबू हरिवंशरायजी बी० ए०]	४०
११.	हिन्दी के दैनिक पत्र (निबन्ध)—[लेखक, श्रीयुत बाबू शिवपूजनसहायजी, सम्पादक 'गंगा']	४५
१२.	हत्यारा (कहानी)—[लेखिका, श्रीमती शिवरानी देवी, धर्मपत्नी श्री प्रेमचन्दजी बी० ए०]	५२
१३.	आवाहन (गद्य-गीत)—[लेखक, श्रीयुत बाबू जैनेन्द्रकुमारजी]	५७
१४.	बलिदान (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत बाबू प्रेमचन्दजी बी० ए०]	५८
१५.	मुक्ता-मंजूषा—[लेखक, श्रीयुत पं० मातादीन शुक्ल, श्री आनन्दरावजी जोशी, वीरेन्द्र वर्मा मालवीय, शान्तिकुमारी वर्मा मालवीय, श्री 'सुशील']	६२
१६.	नीर-क्षीर—[लेखक, श्रीयुत प्रेमचन्दजी, श्री जैनेन्द्रकुमारजी]	७०
१७.	हंस-वाणी—[सम्पादकीय]	७२

सप्तपर्णा

कहानियों का संग्रह!

मूल लेखक—श्री धूमकेतु

कहानियों की नई पुस्तक

यह गुजराती भाषा के स्वनामधन्य धुरन्धर गल्प लेखक 'धूमकेतु' जी की तेजस्विनी और ओजस्विनी लेखनी-द्वारा लिखी गई उन सात कहानियों का संग्रह है, जिन्हें प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन की विविध परिस्थितियों में पढ़ने की आवश्यकता होती ही है।

इन कहानियों के पढ़ने से मनुष्य सच्चे युग-धर्म का अनुयायी बन जायगा। सुधार की नई दुनिया में विचरण करने लगेगा। मानव-स्वभाव का अध्ययन करने में कुशल हो जायगा और मनुष्य के हृदय की नाड़ी परखने में अनुभवी बन जायगा।

यदि आप देशभक्त हैं, समाज-सुधारक हैं, तो इसे हमेशा अपने पास ही रखिये; अति उपयोगी सिद्ध होगी।

इसका 'परिचय' लिखा है हिन्दी-संसार के प्रसिद्ध कलाविद् राय कृष्णदासजी ने, जिसमें उन्होंने सातों कहानियों पर समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है।

इसके अनुवादक हैं } श्रीप्रवालोलाल वर्मा मालवीय
बहन शान्तिकुमारी वर्मा मालवीय

अनुवाद में मूल का भरपूर आनन्द आ गया है। छपाई-सफाई देखते ही बनती है। कव्हर पर गुजरात के यशस्वी चित्रकार श्री कनु देशाई का अंकित किया हुआ भावपूर्ण चित्र है।

एक तिरंगा, दो दुरंगे, तीन एक रंगे चित्र हैं। पृष्ठ-संख्या १६०, मूल्य १।)